विष्णुप्रिया के वरद पुत्र

तथा

वीणापाणि के श्रद्धालु सेवक

**श्री पुरुषोत्तमदास टंडन 'राजामुनुआ'**

को

सविनय

# विषय-सूची

# आभार-प्रदर्शन

'हिन्दी गाथा सप्तशती' का प्रकाशन मेरे लिए एक साहसपूर्ण कार्य है, इसे मैं भलीभाँति जानता हूँ। परन्तु यदि उद्देश्य महान् है तो साहस से काम लेना ही चाहिए। लक्ष्य-मार्ग की बाधा अथवा कठिनाई को सोच कर कदम न उठा बैठ रहना न तो उपयोगी है, न वाछनीय। इसे इसी प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। फिर मेरी अकेली शक्ति एव सामर्थ्य की यह देन नहीं है। पूर्ववर्ती लेखको की प्राय समस्त कृतियों ने किसी न किसी रूप मे मुझे यथेष्ट सहायता पहुँचायी है। अतएव मैं उन सभी लेखको अथवा टीकाकारो से उपकृत हूँ। पाठाश की पाण्डुलिपि तैयार करने मे चि० विनोद तथा चि० नित्यानन्द तिवारी ने अपना यत्किंचित् सहयोग दिया है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० देवीप्रसन्न मैत्र तथा उनके परिवार ने समय-समय पर जिस आत्मीयता के साथ मुझे निरापद स्थान मे काम करने की सुविधा प्रदान की है उसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। परन्तु स्नेहमयी 'ज्वालामुखी' का सक्रिय सहयोग यदि न मिला करे तो मेरे सभी ऐसे सकल्प मन के मन मे ही रह जाया करे। अतएव जो सुख-दुःख का साथी एव भागीदार है उसे कैसे भुलाया जा सकता है।

अन्त मे मैं चि० मोहनदास एव चि० विट्ठलदास के प्रति अपना आभार मानता हूँ जिन्होने धैर्य तथा उत्साह के साथ इसे प्रकाशित किया है। मुद्रण सम्बधी भूलो के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

१८/४ए पुरुषोत्तमनगर,<br>
इलाहाबाद<br>
१ जनवरी १९६१

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

# भूमिका

## उपक्रम

प्राचीन भारतीय वाङ्मय अपने कलेवर में जितना ही विशाल एवं विविध है, अंतरंग दृष्टि से वह उतना ही गहन तथा गंभीर है। मन्त्रद्रष्टा अथवा क्रान्तदर्शी ऋषियों की अंतर दृष्टि तथ्य विश्लेषण से अधिक तत्व चिन्तन पर ही केन्द्रित रही है। उनके चिन्तन का विषय चारों पुरुषार्थों में से अधिकतर 'धर्म एवं मोक्ष' ही रहा है। यद्यपि लौकिक जीवन का सम्बन्ध-सूत्र प्रायः 'अर्थ तथा काम' द्वारा ही संचालित होता है। फिर भी वहाँ पर धार्मिक अथवा आध्यात्मिक स्वर जितना मुखर है, उतना अन्यान्य नहीं। सामाजिक स्तर पर उसका अधिकांश एकांगी तथा एकदेशीय है। यदि कहीं पर दृष्टि-प्रसार लक्षित होता भी है तो वह कीर्त्तिधवल उत्तुंग शैल शिखरों पर ही अधिक टिका है, जन संकुल तमसावृत्त उपत्यकाओं में कम ही रम सका है जिस कारण, उनके आधार पर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का विशद चित्र नहीं उभड पाता है। लौकिक जीवन का स्पष्ट परिचय हमें वहाँ पर नहीं मिल पाता, केवल इतस्ततः उसका आभास मात्र मिलता है। उसमें से ऋषि तथा देव वर्ग के अतिरिक्त मनुष्य का जो रूप झलकता है वह अधिकतर व्यक्ति का न होकर विभूति का है जन साधारण से भिन्न 'कुलीन एवं सम्भ्रान्त' वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। शेष दस्यु, दैत्य तथा म्लेच्छादि कोटि के कहला कर हेय अथवा तिरस्कृत ठहराये जाते हैं। यही नहीं, सभी युगों में 'दास प्रथा' भी किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है।[1]

ऐसे ग्रंथ जो लौकिक जीवन के अधिक निकट हैं बहुत थोड़ी संख्या में सुलभ हैं। उनमें 'गाथा सप्तशती' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, जहाँ मूलतः लोक जीवन का सहज हास विलास, आह्लाद विषाद तथा

---

1 Dev Raj Chanana Slavery in Ancient India, Peoples Publishing House Private Limited, New Delhi 1960

रीति-नीति एवं आचार-विचार भी प्रचुर मात्रा में अभिव्यक्ति पा सका है। इसकी शेष बातें आनुषंगिक मात्र हैं जिनका पृथक् महत्त्व है।

## ग्रंथपरिचय

'गाथा सप्तशती' एक संग्रह ग्रंथ है, यह उसके प्रथम शतक की तृतीय गाथा[1] से स्पष्ट होते देर नहीं लगती। इसे कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं से चयन करके प्रस्तुत किया था।[2] उक्त तृतीय गाथा में प्रयुक्त 'हालेण' शब्द का प्रयोग कतिपय टीकाकारों ने 'शालेण', 'शालवाहनेन' अथवा 'शालिवाहनेन' के रूप में किया है। 'हाल' के रूप में 'शालवाहनेन' अथवा 'शालवाहन' शब्द के प्रयोग संभवतः प्राकृत रूपान्तर के कारण हैं। यह भी संभव है 'शालवाहन' शब्द 'सालाहण' अथवा 'हालाहण' से 'हाल' में परिवर्तित हो गया हो।[3] यद्यपि स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी संदर्भगत 'सलाहणिज्जे' का अर्थ 'शालवाहन' न करके 'श्लाघनीय' करते हैं। ऐसा लगता है कि कतिपय टीकाकार इन तीनों ही नामों से परिचित रहे हैं, क्योंकि सन् १८७३ ईसवी में रावसाहब विश्वनाथ मण्डलीक द्वारा 'गाथासप्तशती' की जो प्रति सुलभ हुई उसका नाम 'शालिवाहन सप्तशती' ही पाया गया[4] जिसका समर्थन कतिपय अन्य उपलब्ध प्रतियों की अन्तिम गाथा से भी हुआ और जिसमें किसी 'कोश' का उल्लेख पाया जाता है।[5]

---

१. सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाणं ॥ १।३ ॥

२. हारोवेणीदण्डो खट्टुग्गलियाइं तहय तालुत्ति।
सालाहणेण गहिया दहकोडीहिं च चउगाहा ॥ ( प्रबन्धचिन्तामणि )

३. केशव स्मृति अंक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६ अंक ३-४ संवत् २००८, पृ० २५३।

४. जर्नल ऑव् रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा, खण्ड १०, संख्या २९, पृ० १२७-१३८।

५. ऐसो कइणामकिय गाहा पडिबद्ध वड्ढिआ मोओ।
सत्त सआओ समत्तो सालाहण विरइओ कोसो ॥ तथा—
वेबर : Das Saptaçatakam, Verse 409.

## गाथा कोश

दण्डी ने सर्गबद्ध अथवा महाकाव्य के अंगीभूत जिन पद्य ग्रंथों का उल्लेख किया है उनमें कोश-ग्रंथ अद्वितीय है। उनके परवर्ती विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के छठें अध्याय में कोशग्रंथ का लक्षण इस प्रकार दिया है "कोशः श्लोक समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः" अर्थात् कोश-काव्य के श्लोक परस्पर निरपेक्ष होते हैं।

उपर्युक्त 'कोश' के सन्दर्भ में हमारा ध्यान सर्वप्रथम कोटि गाथाओं वाले 'गाथाकोश' की ओर आकर्षित हो जाता है जिसका उल्लेख संस्कृत साहित्य तथा प्राकृत सुभाषितों मे यत्र-तत्र पाया जाता है। वहाँ पर कवि एवं कोशकार के रूप मे 'हाल' की स्पष्ट चर्चा है। बाणभट्ट[1], उद्योतन सूरि[2], अभिनन्द[3], राजशेखर[4], हेमचन्द्र[5], जिनप्रभ सूरि[6], मेरुतुंग[7] सोड्ढल[8] और राजशेखर सूरि[9] ने अपनी-अपनी रचनाओं मे विशालकाय ग्रंथ 'गाथाकोश' की ओर इंगित किया है। इनकी रचनाएँ ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के बीच की हैं। इस प्रसंग मे यह सोचने का अवसर मिल जाता है कि 'गाथाकोश' अथवा 'गाथा सप्तशती' एक की न होकर दो विभिन्न रचनाओं की संज्ञाएँ हैं। कारण, 'गाथा सतशती' की गाथाओं की संख्या सात सौ निर्धारित है, जबकि विशालकाय 'गाथाकोश' की गाथाएँ करोड़ की सख्या मे हैं। उद्योतन सूरि द्वारा उल्लिखित 'गाथा कोश' और राजशेखर द्वारा वर्णित 'गाथा संग्रह' अभिन्न प्रतीत होते हैं। मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में जिस 'गाथा कोश' की चर्चा की है वह विचारणीय

---

१. अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः ।
विशुद्धजातिभिः कोषरत्नैरिव सुभाषितै ॥ ( हर्षचरित )

२. दलाल. काव्य मीमांसा, सम्पादकीय टिप्पणी, पृ० १२।

३. वहीं।

४. रामचरित ६।९३ एवं २२।१००।

५. कर्पूर मंजरी एवं सूक्ति मुक्तावली।

६. अभिधान रत्नमाला; देसीनाम माला, वर्ग ८, गाथा ६१।

७. कल्प प्रदीप।

८. उदय सुन्दरी।

९. प्रबन्ध चिन्तामणि, अथ सातवाहन प्रबन्ध, पृ० १०—११।

है।[१] सातवाहन ने चार लाख स्वर्ण मुद्राओं द्वारा 'गाथा चतुष्टय' को लेकर जिस 'सप्तशती गाथा प्रमाण' का 'संग्रह गाथा कोश' या शास्त्र तैयार कराया वह निश्चित रूप से 'चार गाथाओं' का संग्रह मात्र न होकर चार भागों वाला 'गाथा कोश' हो सकता है जिसका समर्थन जिनप्रभ सूरि की इस उक्ति द्वारा हो जाता है कि 'गाथा कोश' चार भागों में बँटा था। परन्तु अभी तक किसी ऐसे संग्रह की प्राप्ति नहीं हो सकी है जिसके अभाव में भ्रमवश 'गाथा सप्तशती' को ही 'गाथा कोश' मान लेने की परम्परा चल पड़ी है। कृति एवं कृतिकार में नामसाम्य होने के कारण यह भ्रान्त धारणा तथ्य रूप में स्वीकार कर ली गई है जिसकी चपेट में बड़े-बड़े टीकाकार तथा इतिहासज्ञ तक आ गए हैं और इसी को परवर्ती लेखकों तक ने दुहरा दिया है।

## उलझन

फलस्वरूप 'गाथा सप्तशती' सातवाहन (प्रथम शताब्दी) की रचना मान ली गई है और उसके संदर्भगत उल्लेखों को तत्कालीन बतलाया जाने लगा है। कतिपय विद्वानों ने अन्तर्साक्ष्य के आधार पर शंका प्रकट करते हुए काल-निर्धारण सम्बंधी भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किया है। कीथ[२] ने यदि उसे दूसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच का बतलाया है तो वेबर[३] ने तीसरी तथा सातवीं शताब्दी के मध्य का। इसी प्रकार भाण्डारकर[४] ने यदि उसे छठी शताब्दी का पाया है तो मिराशी[५] ने पहली से आठवीं शताब्दी तक का होने का अनुमान किया है और नीलकण्ठ शास्त्री[६] ने दूसरी-तीसरी शताब्दी के पक्ष में अपना

१. चतुर्विंशति प्रबन्ध, ज० रा० ए० सो० बम्बई शाखा, खंड १० पृ० १३५।

२. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २२४।

३. वेबर : Das Saptacatakam Des Hala (1881) Introduction, p. xxii

४. भाण्डारकर डी० आर० : विक्रम संवत्, भाण्डारकर स्मारक ग्रंथ, पृ० १८९।

५. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, दिसंबर १९४७, खंड २३; पृ० ३००-१०

६. नीलकण्ठशास्त्री के० ए० : ए हिस्ट्री ऑव् साउथ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृ० ९० एवं ३३०।

मत व्यक्त किया है। परन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व और अधिक ऊहापोह कर लेना अभीष्ट है।

## रचयिता

'गाथा सप्तशती' के रचयिता पर विचार करते समय जब हम कोशकार सातवाहन की विशेषताओं पर ध्यान देते हैं तो कुछ स्पष्ट भेद लक्षित होने लगते हैं। कोशकार हाल का जैनमतावलम्बी होना प्रसिद्ध है, यद्यपि इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, केवल जैन ग्रन्थों में उनका उल्लेख मात्र है, जबकि 'गाथा सप्तशती' का रचयिता शैव है और यह बात मंगलाचरण वाली गाथा से ही स्पष्ट होते देर नहीं लगती।[1] कोशकार हाल का उल्लेख जैन प्रबन्धों में तो पाया ही जाता है इसके अतिरिक्त यह कई जैन तीर्थों का उद्धारक तथा प्रतिपालक कहा गया है। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में ऐसे सन्दर्भ आते हैं जिनसे कोशकार सातवाहन दानी, धर्मात्मा, पराक्रमी, लोकहितैषी एवं विद्यानुरागी जान पड़ता है। उसकी तुलना भोज और मुंज आदि से की गई है। बाणभट्ट ने तो उसे 'त्रिसमुद्राधिपति' की संज्ञा से विभूषित किया है। हेमचन्द्र और मेरुतुंग ने उसे नागार्जुन का शिष्य बतलाया है जो उसका समकालीन था। इसके विपरीत 'गाथा सप्तशती' का रचयिता हाल विलासी रुचिवाला और प्राकृत प्रेमी शृंगारी कवियों का आश्रयदाता है। इसके अतिरिक्त 'गाथा सप्तशती' में जो रचनाएँ संकलित हैं उनका रचना काल भी विचारणीय है।

## रचना काल

ग्रंथ-रचना काल निर्धारित करते समय जब हमारा ध्यान तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति की ओर जाता है तो हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि ग्रंथ में बौद्धधर्म को यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया गया है। इसके विपरीत यदि उसका कहीं उल्लेख हुआ भी है तो

---

१ पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंत गोरिमुहअन्दं।
गहिअग्घपंकअं विअ संझासलिलंजलिं णमह ॥ १।१ ॥

यह सम्मान-सूचक कदापि नहीं है,[१] जबकि बौद्धधर्म के लिए प्रथम शताब्दी उत्कर्ष-काल ठहराया जा सकता है। अशोक का शासन-काल बौद्धधर्म के प्रचार एवं प्रसार का युग रहा है ऐसे समय की रचना में उक्त धर्म का इस प्रकार का उल्लेख होना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। इसके विपरीत यहाँ पर राधा, कृष्ण, हर, गौरी, गणेश, वामन, कालिका, सरस्वती और लक्ष्मीनारायण आदि की अधिक चर्चा है। यहाँ पर पौराणिक देवी-देवताओं का ही प्राधान्य है जो उस युग की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है। ऐसी दशा में यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि 'गाथा सप्तशती' गुप्तकाल अथवा उसके बाद का संग्रह है जैसा कि श्री मथुरानाथ शास्त्री ने भी अपनी भूमिका में संकेत किया है।

*बहिसाक्ष्य के आधार पर यह विचारणीय है कि प्राचीन लेखकों* द्वारा जहाँ-कहीं 'गाथाकोश' का उल्लेख हुआ है, वहाँ पर 'गाथा-सप्तशती' का नाम नहीं आया है। इसी प्रकार संकलित गाथाओं की सात सौ संख्या का उनमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। दसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक यही स्थिति है। हेमचन्द्र, जिनप्रभ सूरि और राजशेखर सूरि आदि ने भी 'गाथाकोश' का ही नाम लिया है। चौदहवीं शताब्दी के मेरुतुंग ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिन्होंने 'गाथा सप्तशती' का नामोल्लेख किया है। ऐसा लगता है कि 'गाथा सप्तशती' को यहीं से सातवाहन संकलित 'गाथाकोश' बतलाने की भूल आरंभ हुई है। मेरुतुंग ने जिस 'गाथा चतुष्टय' का उल्लेख किया है उससे 'गाथा सप्तशती' की संगति नहीं बैठती है। 'गाथा सप्तशती' को प्रथम शताब्दी का संग्रह मानने में एक अन्य बाधा भी है वह यह कि उसके बाद गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' के रचना-काल बारहवीं शताब्दी तक किसी अन्य सप्तशती का पता नहीं चलता है। श्री मथुरानाथ शास्त्री ने अपनी भूमिका में यह दिखलाने का यत्न किया है कि 'आर्या सप्तशती' की कई गाथाओं पर 'गाथा सप्तशती' का स्पष्ट प्रभाव है। इससे यह अनुमान करने का और अधिक अवसर मिल जाता है कि 'गाथासप्तशती' दसवीं-बारहवीं शताब्दी के बीच का संकलन है।

---

१. कीरमुहसच्छहेहिं रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिं ।
*बुद्धस्स चलणवन्दण पडिएहिं व भिक्खुसंघेहिं ॥ ४।८ ॥*

## पाठभेद

उत्तर तथा दक्षिण भारत में 'गाथा सप्तशती' की कई प्रतियाँ उपलब्ध बतलायी जाती हैं। वेबर ने प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठों को शोधने के लिए नियम (Vorwort, p. XXVII) बनाया जिसके अनुसार चार सौ तीस गाथाओं के पाठ परस्पर मिलान के बाद निर्धारित हुए, किन्तु मूल 'गाथा सप्तशती' की संख्या इससे कहीं अधिक है। कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं में से सात सौ गाथाओं को चुन कर संकलित किया अथवा करवाया था। अतएव मूलतः सात सौ से कम गाथाएँ नहीं होनी चाहिए।

## क्रमभेद

'गाथा सप्तशती' की उपलब्ध प्रतियों की गाथाओं के क्रम में एकरूपता नहीं है। प्रतिलिपि करने अथवा कराने वालों ने मनमानी रीति से उन्हें क्रमबद्ध कर दिया है। कहीं-कहीं अन्यान्य प्रचलित गाथाओं तक का उनमें समावेश किया गया मिलता है। वेबर वाले संस्करण की उत्तरार्द्ध वाली गाथाओं में से कई परवर्तीकालीन हैं। लोकप्रिय गाथाओं के मूल रूप में हस्तलिखित न होने के कारण पाठभेद के साथ-साथ क्रमभेद के भी अधिक अवसर उपस्थित हुए हैं।

## टीकाएँ

आफ्रेट के अनुसार 'गाथा सप्तशती' की लोकप्रियता का पता उसकी टीकाओं की संख्या से चल जाता है। कुलनाथ, गंगाधर, पीतांबर, प्रेमराज, भुवनपालन और साधारण देव ऐसे ही टीकाकार हैं। इनके अतिरिक्त पीतांबर की टीका में भट्ट, चैतन्य, कुलपति, भट्टराघव और भोजराज के नामोल्लेख हैं। डॉ० भाण्डारकार ने किसी आजड का टीकाकार रूप में नाम गिनाया है।[1] पंजाब विश्वविद्यालय

1. Report on the Search for Sanskrit Manuscripts during the Years 1887-91, p. 26.

के पुस्तकालय मे माधवराज मिश्र लिखित 'तात्पर्य दीपिका' नामक हस्तलिखित टीका सगृहीत है।[1] पडित मथुरानाथ शास्त्री की टीका आधुनिक है। गगाधर तथा पीताबर की टीकाएँ पूर्ववर्ती हैं जिनका उल्लेख शास्त्री जी ने किया है। इनमे से भुवनपाल जैन और प्रेमराज सहगल ( सहगिल ) खत्री हैं, क्षत्रिय नहीं जैसा कि अन्यत्र कहा गया है। वेबर के अनुसार 'गाथा सप्तशती' की सात प्रतियाँ और तेरह टीकाएँ उपलब्ध हैं।[2] 'व्यङ्ग्य सर्वकषा' एक भिन्न टीका है।

## गाथा सप्तशती के कवि

'गाथा सप्तशती' की सभी प्रतियों में सकलित गाथाओं में एक रूपता नहीं है। चार सौ तीस गाथाओं में ही समानता है, शेष में विविधता है।[3] इनके रचयिताओं के भी उल्लेख प्राय मिल जाते हैं। फिर भी कई प्रतियों मे कवियों के नाम परस्पर नहीं मिलते। भुवनपाल की टीका में इन रचयिताओं की सख्या ३८४ तक पहुँच जाती है। बङ्गाल से ताडपत्र पर लिखित एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है जिसमे चार सौ तीस गाथाएँ सकलित हैं और जो सभी उपलब्ध प्रतियों मे एक सी है। इस प्रकार लगभग दो सौ सत्तर अथवा इनसे अधिक गाथाओं मे ही हेर फेर है।

कवियों की नामावली पर विचार करते समय यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इनमे से अधिकाश का समय प्रथम शताब्दी के बाद का है और यह उन चार सौ तीस मूल गाथाओं के कवियों पर भी लागू होता है। इसलिए यह मानने का सबल कारण है कि मूल मे ही इन कवियों की रचनाओं को सकलित कर लिया गया है। इससे काल निर्णय करने मे भी सहायता मिलती है। मूल 'गाथा सप्तशती'

---

१ जगदीश लाल Gatha Sapta Sati, Introduction, p 15

२ वेबर Das Saptacatakam Des Hala, XXVIII Indische Studien XVI p 9

३ वेबर Das Saptacatakam Des Hala (1881) p XXVIII
मिराशी The Date of Gatha Saptasati Indian Historical Quarterly, Dec 1947

के कतिपय रचयिताओं के कालक्रमादि पर यहाँ विचार कर लेना उपयोगी है जो इस प्रकार है—

( १ ) प्रवरसेन : भुवनपाल की टीका में इन्हें प्रवर, प्रवरराज अथवा प्रवरसेन कहा गया है। पीतांबर की टीका में भी इनका उल्लेख है। यही बात निर्णयसागर प्रेस वाले संस्करण में पायी जाती है। इन्हें प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' और 'रावण वहो' का रचयिता बतलाया जाता है। बाण, दण्डी तथा आनन्दवर्द्धन के उल्लेखों के आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। यदि इन्हें हम वाकाटक वंशीय द्वितीय प्रवरसेन मान लें तो यह समय पाँचवीं शताब्दी का हो सकता है जो कश्मीर नरेश प्रवरसेन का समसामयिक भी कहला सकता है।

( २ ) सर्वसेन : भुवनपाल और पीतांबर की टीकाओं में इनका नाम मिलता है। दण्डी ने 'अवन्ति सुन्दरी' में प्राकृत काव्य 'हरि विजय' के रचयिता को राजा बतलाया है। यह वाकाटक वंशीय वत्सगुल्म शाखा का संस्थापक हो सकता है जो प्रथम प्रवरसेन के पुत्रों में से एक था। इसका उल्लेख इसके पुत्र द्वितीय विन्ध्यशक्ति के बसीम ताम्रपत्र तथा अजन्ता की १६ सरयक गुफा में पाया जाता है। सर्वसेन का समय चौथी शताब्दी का द्वितीय चरण है।

( ३ ) मान : मिराशी इन्हें राष्ट्रकूट वंश का संस्थापक मानाङ्क मानते हैं जिनका समय चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मध्य है। सतारा जिला का मान अथवा मानपुर इस घराने का मुख्य स्थान है। कर्नल टॉड को मोरी राजा मान का एक शिलालेख मानसरोवल झील ( चित्तौड ) से भी प्राप्त हुआ था।

( ४ ) देव अथवा देवराज : इसे मिराशी राष्ट्रकूट वंशीय मानाङ्क का पुत्र बतलाते हैं जिसके दरबार में कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दौत्य कार्य करने के लिए भेजा था। इस राजा का उल्लेख राष्ट्रकूट वंश की दो ताम्रलिपियों में हुआ है। ये दोनों पिता पुत्र मुक्तक-काव्य के रचयिता तथा प्राकृत कविता के प्रेमी थे। 'देसीनाममाला' में देसी नामों के किसी कोश की चर्चा है जो देवराज कृत बतलाया जाता है। नवीं-दसवीं शताब्दी के शिलालेखों में भी इस नाम के अन्यान्य राजाओं के उल्लेख पाये जाते हैं।

( ५ ) वाक्पतिराज : यह महाराष्ट्रीय प्राकृत काव्य 'गउडवहो' तथा 'मधुमथन विजय' का रचयिता समझा जाता है। इसकी चर्चा आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त और हेमचन्द्र ने भी की है। कन्नौज के प्रतिहार राजा यशोवर्म्मन का यह राजकवि था और 'वाक्पतिराज' परमार राजा मुंज का एक विरुद भी था। भवभूति का यह समसामयिक है। यह आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का ठहरता है।

( ६ ) कर्ण अथवा कर्णराज : अकोला जिले के तरहला ग्राम से इस नाम के कई सिक्के मिले हैं। मिराशी के अनुसार यह सातवाहन वंशीय एक राजा है जिसका समय तीसरी शताब्दी का द्वितीय चरण है।

( ७ ) अवन्तिवर्म्मन : यह नवीं शताब्दी का प्रसिद्ध कश्मीर नरेश है जिसके दरबार में 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आनन्दवर्द्धन रहते थे।

( ८ ) ईशान : यह बाणभट्ट का मित्र तथा समसामयिक प्राकृत का प्रसिद्ध कवि था जिसका नामोल्लेख 'कादम्बरी' में पाया जाता है। इसका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

( ९ ) दामोदर : यह आठवीं शताब्दी के कश्मीर नरेश जयपीड का प्रधान मंत्री हो सकता है जो 'कुट्टनीमतम्' का रचयिता बतलाया जाता है। उसमें 'रत्नावली' की कथा और एक पद्य पाया जाता है।

( १० ) मयूर : बाणभट्ट ने इसे प्राकृत भाषा का कवि और अपना श्वसुर बतलाया है। इसलिए इसका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

( ११ ) बप्प स्वामी : यह प्रसिद्ध कवि तथा जैन आचार्य समझा जाता है जो प्रतिहार राजा नाग वा लोक अथवा द्वितीय नागभट्ट का मित्र एवं समसामयिक था। चन्द्रप्रभ सूरि की रचना 'बप्पभट्टि चरित' ( प्रभावक चरित ) में इसका उल्लेख मिलता है। इसका समय नवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

( १२ ) वल्लभ अथवा भट्ट वल्लभ : आनन्दवर्द्धन कृत 'देवीशतक' की टीका में कैय्यट ने अपने को वल्लभदेव का पौत्र कहा है जिसका समय दसवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण है। अपनी रचना 'भिक्षाटन' काव्य में कवि ने पूर्ववर्ती कवि कालिदास तथा बाणभट्ट की चर्चा की है। इस प्रकार इसका समय आठवीं-नवीं शताब्दी हो सकता है।

( १३ ) नरसिंह : शार्ङ्गधर पद्धति एवं 'ध्वन्यालोक' की टीका में इस कवि के कई श्लोकों का पता चलता है। यह सोलंकी राजा भी हो सकता है जो धारवार जिले का निवासी था। दसवीं शताब्दी के कवि पंप रचित 'विक्रमार्जुन विजय' में इस वंश के दस राजाओं का उल्लेख मिलता है। इस नामावलि में नरसिंह नामक दो राजा हैं। कवि पंप द्वितीय नरसिंह का समसामयिक था। कन्नौज नरेश यशोवर्मन का उपनाम 'नरसिंह' कहा गया है।

( १४ ) अरिकेसरी : यह नरसिंह का पुत्र समझा जाता है। द्वितीय अरिकेसरी कवि पंप का समसामयिक है।

( १५ ) वत्स, वत्सराज अथवा वत्स भट्टी : नवीं शताब्दी में कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार वंशीय वत्सराज नामक राजा रहा है। पाँचवीं शताब्दी का 'मदसोर प्रशस्ति' का रचयिता वत्सभट्टी इन गाथाओं का रचयिता हो सकता है। इस अवधि के भीतर इस नाम के कई व्यक्ति अथवा राजा हुए हैं जो हर हालत में परवर्ती कालीन हैं।

( १६ ) आदि वराह : नवीं शताब्दी की ग्वालियर प्रशस्ति में प्रतिहार राजा भोजदेव का उपनाम 'आदि वराह' दिया गया है। बहुत संभव है कि यही यह कवि है।

( १७ ) माउरदेव : स्वयंभू प्राकृत साहित्य का प्रख्यात जैन लेखक है जो अपने को भाषा-कवि माउरदेव का पुत्र बतलाता है। 'पउम चरिउ', 'पंचमी चरिउ' तथा 'रिट्ठनेमि चरिउ' इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसके एक व्याकरण की चर्चा मिलती है जो न तो प्रसिद्ध है, न उपलब्ध। प्राकृत भाषा के छंद पर इसकी किसी रचना का पता नहीं चलता है। इसका समय सातवीं-आठवीं शताब्दी संभव जान पड़ता है।

( १८ ) विअड्ढ ( विअड्ढइन्द्र ) : स्वयंभू के ग्रंथों में प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि रूप में इनका उल्लेख मिलता है। इनका समय छठीं-सातवीं शताब्दी हो सकता है।

( १९ ) धनञ्जय : इस नाम के दो कवि विख्यात हैं। एक मालवा नरेश मुंज परमार का दरबारी कवि था जो भोज तथा सिन्धुल का समसामयिक था। एक अन्य धनञ्जय नामक लेखक का संस्कृत श्लोक 'धवला' टीका में उद्धृत है जो धनञ्जय 'नाममाला' का ही है। यह संस्कृत का महाकवि है जिसका 'द्विसधान' महाकाव्य 'काव्यमाला' में

प्रकाशित है। 'नाममाला' कोश प्राकृत का नहीं, संस्कृत का कोश है।[1] धवला टीका आठवीं शताब्दी की है। इस प्रकार ये दोनों कवि छठीं से दसवीं शताब्दी के बीच के हैं।

( २० ) कविराज : कन्नौज के विख्यात कवि राजशेखर का विरुद है।[2] राजशेखर प्राकृत का कवि तथा विद्वान था। 'कर्पूर मञ्जरी', 'काव्य मीमांसा' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' आदि इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसका समय नवीं-दसवीं शताब्दी है।

( २१ ) सिंह : नवीं शताब्दी के प्रथम चरण में गुहिलोत वंशीय इस नाम का राजा था। दसवीं शताब्दी के शक्ति कुमार के आहाड़ से उपलब्ध एक शिलालेख[3] में इसकी प्रथम भर्तृपद के पुत्र रूप में चर्चा है। 'चाटसू प्रशस्ति'[4] में इसे ईशान का अग्रज कहा गया है।

( २२ ) अमित ( गति ) : यह संस्कृत भाषा का कवि और माथुर संघ का जैन मुनि है।[5] इसके संस्कृत ग्रंथ प्राकृत के संस्कृत रूपान्तर मात्र हैं। मालवा के मुंज परमार के दरबार में इसे सम्मान प्राप्त था। इसका समय दसवीं शताब्दी है।

( २३ ) माधवसेन : यह अमित गति का गुरु है। परन्तु इसका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। संभव है स्फुट रचनाएँ करता रहा हो।

( २४ ) शशि प्रभा : परमार राजा मुंज तथा उसके उत्तराधिकारियों के दरबारी पद्मगुप्त ने अपनी रचना 'नवसाहसांक चरित' में राजा सिन्धुल की रानी शशिप्रभा का उल्लेख किया है। संभव है यही वह कवयित्री हो।

( २५ ) नरवाहन : मेवाड़ के गुहिलोत वंशीय राजा सिंह के उत्तराधिकारियों में यह नाम पाया जाता है। इसका दसवीं शताब्दी का एक

---

१. स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी द्वारा डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल को लिखा गया पत्रांश जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५७, अंक २–३, संवत् २००९ में पृ० २७३–७४ छपा है।

२. दलाल : काव्यमीमांसा की भूमिका, पृ० ३२।

३. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, खण्ड ३९, पृ० १९१।

४. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड १२, पृ० १३–१७।

५. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ८३, २५७

शिलालेख उदयपुर के पास एकलिंग स्थान से मिला है।[1] आहाड़ के शिलालेख में इसे शालिवाहन का पिता सूचित किया गया है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा 'गाथा सप्तशती' का रचना-काल निर्धारित करने में यथेष्ट सहायता मिलती है और यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि वर्तमान रूप में 'गाथा सप्तशती' वस्तुतः 'गाथा कोश' से भिन्न कृति है। इस प्रकार इसका परवर्ती कालीन होना भी निश्चित हो जाता है। फिर भी यह जानना शेष रह जाता है कि यह सातवाहन वंशीय कोशकार हाल से भिन्न हाल कौन और कहाँ का है जो शैव राजा भी है।

## निष्कर्ष

'गाथा सप्तशती' का सकलनकर्त्ता निश्चय ही कुशल कवि अथवा काव्य मर्मज्ञ रहा होगा। ध्वन्यालोक, तल्लोचन, काव्य प्रकाश तथा सरस्वती कण्ठाभरण आदि ग्रंथों में 'गाथा कोश' की कई गाथाओं को उद्धृत किया गया मिलता है। इससे पता चलता है कि यह काव्य-प्रेमियों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। ऐसा लगता है कि उसके अधिकतर शृंगारी गाथाओं का चयन करके यह सग्रह ग्रंथ तैयार किया गया है जिसकी पुष्टि तीसरी गाथा द्वारा हो जाती है।[2] परवर्ती टीकाकारों ने गाथा कोशकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) और 'गाथा सप्तशती' के संकलनकर्त्ता को अभिन्न मानकर दोनों की ही गाथाओं को हाल नाम से सम्बद्ध कर दिया है। यद्यपि अपवाद स्वरूप 'शाल' अथवा 'शालिवाहन' पाठ भी मिल जाते हैं।

पीताबर की टीका में कई स्थलों पर हाल के स्थान पर शालवाहन कर दिया गया है जो गाथाएँ गाथा कोशकार हाल सातवाहन

---

१ जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा, खंड २२, पृ० १६६–६७।

२ सत्त सताइ कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि।
हालेण विरइआइ सालङ्काराणँ गाहाण ॥ १।३ ॥
संस्कृत रूपान्तर—
सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥

की न होकर 'गाथा सप्तशती' के संकलनकर्त्ता शालिवाहन की हो सकती हैं। इस टीका में जिन कई गाथाओं का रचयिता 'शालवाहन' है यह निर्णय सागर प्रेस वाले संस्करण मे 'हाल' द्वारा रचित नहीं बतलाया गया है।[1] इससे यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि गाथाओं के रचयिताओं का नाम देने में टीकाकारों से भूलें हुई हैं। कवियों की नामावली मे भी पाठभेद है और उनकी गाथाओं में भी क्रमभेद हुआ है तथा कई गाथाओं मे कवियो के नाम तक नहीं हैं। फिर भी 'गाथा कोश' की कई गाथाएँ 'गाथा सप्तशती' में समाविष्ट हैं। प्रथम शतक की प्रारंभिक तीन गाथाएँ और अन्य शतकों के आदि एवं अन्त की अथवा कुछ अन्य गाथाएँ 'गाथा सप्तशती' के 'शालिवाहन' की हैं जिनका 'शालवाहन' पाठान्तर उपलब्ध है। शेष गाथाएँ जो हाल नाम के साथ अंकित है वे दाक्षिणात्य सातवाहन 'हाल' की रचनाएँ हैं जो 'गाथा कोश' से ले ली गई जान पड़ती हैं। 'गाथा सप्तशती' मे सातवाहन 'हाल' के राजकवि 'पालित' तथा 'गुणाढ्य' की भी कुछ गाथाएँ शामिल हैं। यह उल्लेखनीय है कि 'गाथा सप्तशती' में कहीं भी 'हाल' का 'सातवाहन' रूप मे उल्लेख नहीं मिलता।

गाथाओं में उल्लिखित विषय एवं शब्दादि से उनके रचयिता का दाक्षिणात्य अथवा महाराष्ट्री होने का अनुमान होता है। परन्तु इसके विपरीत अन्य गाथाओं मे यमुना तथा मानसरोवर का भी नामोल्लेख हुआ है। यही नहीं अन्य कई ऐसे वर्णन मिलते है जिनका उत्तरी भारत की रीति-नीति से भी साम्य है। इसलिए यह भी ध्यान देने योग्य है।

परन्तु दसवीं शताब्दी का शैवमतावलम्बी शालिवाहन नामक राजा जिसके सरक्षण मे 'गाथा सप्तशती' का संकलन हुआ है वह मेवाड़ का गुहिलोत वशीय राजा नरवाहन का पुत्र शालिवाहन हो सकता है। उसका शासन-काल ९७२–७७ ईसवी के आस-पास है जिसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी शक्तिकुमार था।[2] मेवाड़ का राजवंश

१. मिराशी : The Date of Gathasaptasti, Indian Historical Quarterly, 1947.

२. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, खण्ड १, पृ० ४३०–३३।

परम्परा से ही पाशुपत शैवमत का अनुयायी है। राजा शालिवाहन विलासी प्रकृति का था और उसका अंत भी दुश्चरित्रता के ही कारण हुआ। इस प्रकार राजकुल में इसका स्थान गौण बन गया और उसका उल्लेख केवल ९७७ ईसवी की आहाड अथवा ऐतपुर प्रशस्ति में ही हो सका। आबू, चित्तौड़ तथा रणपुर की प्रशस्तियों की वंशावली में उसका नाम तक नहीं मिलता।

गाथा कोशकार सातवाहन हाल के नौ शताब्दियों बाद मेवाड़ नरेश शालिवाहन का ही नाम आता है जिसकी राजधानी आहाड अथवा आड ( प्राकृत में आढ्य ) रही है। इसका ध्वंशावशेष अब भी उदयपुर के पास देखा जा सकता है। इसी समय के आस-पास मालवा नरेश परमार राजा मुंज ने आक्रमण द्वारा आहाड़ को ध्वस्त कर चित्तौड को हस्तगत कर लिया था।[1] इसी आहाड के आधार पर इन नरेशों को आहाडिया कहने की परम्परा थी। यह स्थान तीर्थ-स्थान भी रहा है। बहुत दिनों तक दोनों शालिवाहन ( गुहिल तथा सातवाहन ) भ्रमवश एक ही समझे जाते रहे जिसका निराकरण स्वर्गीय ओझा जी ने किया था। इस भ्रान्ति को पुष्ट करने में जिनप्रभ सूरि तथा राजशेखर सूरि ने भी योगदान दिया था। परन्तु जिनप्रभ सूरि यह लिखना भी नहीं भूले कि यदि कहीं कोई असंभाव्य बात आ गई हो तो उसका दायित्व उन पर नहीं, 'पर-समय' पर है क्योंकि जैन कभी असगत बातें नहीं कहते।[2]

फिर भी शका हो सकती है कि मेवाड में प्राकृत भाषा का प्रचलन था भी अथवा नहीं। तथ्य यह है कि गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद सातवीं से दसवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में प्राकृत का प्रचार अपने उत्कर्ष पर था। ग्यारहवीं शताब्दी के राजा भोज ने अपनी रचना 'सरस्वती कण्ठाभरण' में लिखा है कि "आढ्यराज के राज्य

---

१. एपिग्राफिआ इण्डिका, खण्ड १० श्लोक १०, पृ० २०।

२. अत्र च यदसम्भाव्यं तत्र परसमय एव।
मन्तव्यो हेतुर्यन्नासङ्गतवाग्जनो जैन॥

में कौन प्राकृतभाषी तथा साहसाक के समय में कौन संस्कृतभाषी नहीं हुआ ?"[1]

आढ्यराज को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है और बाण का एक श्लोक टीकाकार शंकर के कारण विवादास्पद बना रहा। किन्तु डा० हाजरा ने अपने एक लेख द्वारा इसका निराकरण कर दिया।[2] उनके अनुसार बाण ने सम्राट् हर्ष के लिए आढ्यराज का प्रयोग किया है। अतएव प्राकृत-प्रेमी आढ्यराज शालिवाहन ही हो सकता है जिसका उल्लेख 'सरस्वती कण्ठाभरण' में हुआ है। इस प्रकार यह आढ्यराज मेवाड़ नरेश गुहिल शालिवाहन का ही विरुद होना चाहिए। सातवाहन हाल के लिए आढ्यराज कहा गया कहीं नहीं मिलता। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रभाव तथा प्रचलन के कारण 'श' का 'ह' उच्चारण हो जाना सम्भव है। अतएव शाल का हाल हो जाना असम्भाव्य नहीं है। श्री मिट्ठन लाल माथुर ने अपने एक निबन्ध में इन प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि "दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी प्राकृत-प्रेमी शैव राजा ने छह अन्य दरबारी कवियों की सहायता से अपनी शृंगारी मनोवृत्तियों के अनुकूल प्राचीन एवं समकालिक प्राकृत कवियों की रचनाओं में से ७०० मुक्तक गाथाएँ चुनकर 'गाथा सप्तशती' या 'शालिवाहन सप्तशती' नाम से पहली बार संगृहीत की।"[3]

## प्रथम प्रकाशन

'गाथा सप्तशती' को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय वेबर को है। सन् १८७० ईसवी में उन्होंने लिप्जिग से Uber Das Saptacatakam Des Hala नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया था जिसमें तीन

---

१ केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृत भाषिण ।
काले श्री साहसाकस्य के न संस्कृतवादिन ॥

२ डॉ० आर० सी० हाजरा इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जून १९४९ पृ० १२६–२८।

३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५६ अङ्क ३–४ संवत् २००८, पृ० २७५।

सौ सत्तर गाथाएँ संगृहीत थीं। सन् १८७२-७४ ईसवी में और अधिक गाथाएँ उपलब्ध हुईं जिन्हें उन्होंने Zeitschrifter Deutschen Morgen Landischen Gasellschaft ( 26 : pp 735 foll ) में प्रकाशित कराया। परन्तु 'गाथा सप्तशती' की सम्पूर्ण प्रति सन् १८८१ ईसवी में लिप्जग से ही प्रकाशित हुई जिसका नाम Das Saptacatakam Des Hala था। उन्होंने पुस्तक को शुद्ध बनाने के लिए अनेक हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया था और साधारणदेव की 'मुक्तावली' नामक टीका की 'व्रज्या पद्धति' से काम लिया था तथा कुलनाथ, गंगाधर एवं पीतांबर की टीकाओं से भी सहायता ली थी। 'व्रज्या पद्धति' उत्तरकालीन है। 'वज्जालग्ग' में कहा गया है कि—

एकत्थे पत्थावे जत्थ पढिजन्ति पउर गाहाओ।
तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया॥

'व्रज्या' अर्थात् विषय क्रम से संग्रह करने की पद्धति। डॉ० थामस ने 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' की प्रस्तावना में वज्जा, व्रज्या और वर्ग को समानार्थी शब्द माना है।[1]

## भारतीय संस्करण

परन्तु भारतवर्ष में 'गाथा सप्तशती' को सर्वप्रथम सन् १८८६ ईसवी में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित कराने का श्रेय 'काव्यमाला' सम्पादक पण्डित दुर्गा प्रसाद शर्मा तथा पणशीकर शास्त्री को है। यह संस्करण निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'काव्यमाला' ( क्रमांक २१ ) में मुद्रित हुआ था जिसमें गंगाधर भट्ट की 'भावलेश प्रकाशिका' टीका भी सम्मिलित है। इसे तैयार करने में चार हस्तलिखित प्रतियों की सहायता ली गई थी जिनके आधार पर पाठभेद भी दे दिया गया है। सम्पादक द्वारा संस्कृत प्रस्तावना के अतिरिक्त अकारादि क्रम से गाथाओं की अनुक्रमणिका भी दी गई है। सन् १९११ ईसवी में इसकी द्वितीयावृत्ति हुई थी। पंडित मथुरानाथ शास्त्री ने इसका प्रकाशन संस्कृत छाया, विस्तृत प्रस्तावना तथा टीका सहित निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से कराया था जिसकी तृतीयावृत्ति

---

१. Ed. P. W. Thomas : Bibliotheca Indica, No 1309.

सन् १६३३ ईसवी में हुई थी। इस सस्करण के बाद पञ्जाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सगृहीत हस्तलिखित प्रति की सहायता लेकर जगदीशलाल जी ने पहले ओरियटल कालेज मेगजीन में और तदनन्तर सन् १६४० ईसवी में लाहोर से हारिताम्र पीताबर की टीका सहित पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया था जिसके आरभ में विवेचनात्मक प्रस्तावना तथा अन्त में अकारादि क्रम से गाथासूची सम्मिलित है।

यह सयोग की बात है कि सन् १६५६ ईसवी मे लगभग एक साथ ही कलकत्ता से श्री राधागोविन्द बसाक द्वारा बगला सस्करण और पुणे से श्री सदाशिव आत्माराम जोगलेकर द्वारा मराठी सस्करण सुसपादित होकर प्रकाशित हुए है। निस्सन्देह आज तक हिन्दी पाठकों के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ का कोई हिन्दी सस्करण सुलभ न होना चिन्त्य रहा है।

## भाषा

महाराष्ट्रीय प्राकृत मे 'गाथा सप्तशती' की रचना हुई है। प्राकृत भाषा के कई रूप है जो देशकालादि के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। 'काव्यालकार' के टीकाकार नमि साधु (१०६८ ईसवी) ने "प्रकृतेति। सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहित सस्कार सहजो वचन व्यापार प्रकृति। तत्रभव सैव वा प्राकृतम्।" द्वारा प्राकृत का परिचय दिया है। इस प्रकार प्राकृत सस्कृत के सस्कार से शून्य तथा व्याकरण के नियन्त्रण से मुक्त सामान्य जनता की स्वभाव सिद्ध बोलचाल की भाषा है। परन्तु सस्कृत तथा प्राकृत का परस्पर अप्रभावित रहना स्वाभाविक नहीं है। 'प्राकृत सञ्जीवनी' मे कहा गया है कि "प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृत योनि।" फिर भी डॉ गुणे इससे सहमत नही जान पडते, वे दोनों को पृथक् पृथक् मानते हैं।[1] वररुचि प्राकृत भाषा का आदि व्याकरणकार है जो पाणिनि का परवर्ती अथवा समसामयिक है।[2] उसने महाराष्ट्री, पैशाची शौरसेनी एव मागधी इन चार भाषाओं पर विचार किया है। महाराष्ट्री प्राकृत के

१ An Introduct on to Comparat ve Ph lo ogy, p 161

२ डॉ० केतकर प्राचीन महाराष्ट्र, पृ० ३१४।

मूल स्थान को लेकर विद्वानो मे मतैक्य नहीं है। दण्डी के अनुसार "महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु।" इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण सकेत है।[1] प्राकृत भाषा मे भी तत्सम, तद्भव एव देशी शब्दों का मिश्रण मिलता है।

प्राकृत भाषा के माधुर्य की बडी प्रशसा की गई मिलती है। 'वज्जालग्ग' में जयवल्लभ ने निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

देसियसद्दपलोट्ट महुरक्खरछन्दसठिय ललिय।
फुडवियडपायडत्थ पाइअकव्व पढेयव्व॥ २८॥[2]

इसी प्रकार राजशेखर ने सस्कृत एव प्राकृत भाषा की तुलना करते हुए 'कर्पूरमजरी' (निर्णयसागर प्रेस सस्करण १।८) मे लिखा है कि—

परुसा सक्कअबधा पाउअबधो वि होइ सउमारो।
पुरिसमहिलाणॅ जेत्तिआमहतर तेत्तिअमिमाण॥[3]

वाक्पति राजा के निम्नलिखित उद्गार भी ध्यान देने योग्य है—

णवमत्थ दसण सनिवेश सिसिराओ बन्ध रिद्धीओ।
अविरलमिणमो आ भुवन बन्धमिह णवर पययम्मी॥
सयलाओ इम वाया विसन्ति एत्तो य णेन्ति वायाओ।
एन्ति समुद्दचिय णेन्ति सायराओच्चिय जलाइ॥
हरिस विसेसो वियसावओ य मउलावओ य अच्छीण।
इह वहि हुत्तो अन्तो मुहो य हिययस्स विप्फुरइ॥

इतने पर भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठता मे भला किसे सन्देह रह सकता है? किसी अज्ञात कवि की उक्ति है कि—

---

१ घात्गे Maharastri Language and Literature Journal of the University of Bombay Vol IV Part VI p 31

२ सस्कृत रूपान्तर—

देशीशब्दपर्यस्त मधुराक्षरच्छन्द सस्थित ललित।
स्फुटविकटप्रकटार्थ प्राकृतकाव्य पठनीय॥

३ सस्कृत रूपान्तर—

पुरुषा सस्कृतगुम्फा प्राकृतगुम्फोऽपि भवति सुकुमार।
पुरुषमहिलाना यावदिहान्तर तेषु तावत्॥

*अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।*
*कामस्स तत्त तन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥*

*अर्थात् 'जिसने अमृत सदृश प्राकृत काव्य का पठन अथवा श्रवण करना नहीं जाना वह कामशास्त्र की तत्त्व-चिन्ता में प्रवृत्त होते लज्जा का अनुभव क्यों नहीं करता ?'*

फिर भी यह लक्ष्य करने की बात है कि नानाघाट एवं नासिक के शिलालेखों में व्यवहृत प्राकृत, 'गाथा सप्तशती' के प्राकृत जैसी नहीं है। कदाचित् यह भेद शैलीभेद के कारण है। इसका एक अन्य कारण कालभेद और स्थानभेद भी हो सकता है। सोलहवीं शताब्दी के संत कवि रज्जब जी ने प्राकृत और संस्कृत के विषय में कहा है—

बीज रूप कछु और था, वृक्ष रूप भया और ।
त्यों प्राकृतं संस्कृत, रज्जब समझा व्यौर ॥ ७४ ॥'[1]

## छन्द

'गाथा सप्तशती' का 'गाथा' शब्द छन्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यों 'गाथा' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर बौद्धादि साहित्य तक में विभिन्न अर्थों में किया गया मिलता है। पिंगलाचार्य ने 'अत्रानुक्तं गाथा' कहा है। हलायुध "अत्रशास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्तं छन्दः प्रयोगे च दृश्यते, तद्गाथेति मंतव्यम्" कहते हैं। रत्नशेखर सूरि ने गाथा का लक्षण इस प्रकार बतलाया है।

सामन्नेणं बारस अट्ठारस बार पन्नरमत्ताओ ।
कमसो पायचउक्के गाहाए हुंति नियमेणं ॥
गाहाइ दले चउचउमत्तंसा सत्त; अट्ठोमदुकल्लो ।
एयं बीयद्दले विद्दु नवरं छट्ठोइ एकगलो ॥

कोलब्रुक गाथा को प्राकृत में संस्कृत से आया बतलाते हैं।[2] डॉ० गोरे ने 'वज्जालग्ग' की प्रस्तावना के सातवें पृष्ठ पर गाथा का विवरण दिया है। अन्यत्र प्राकृत गाथा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : संतकाव्य, प्रथम संस्करण, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० ३८१।

२. Sanskrit and Prakrit Poetry, Asiatic Researches x, p 400.

पठम बारह मत्ता, वीए अट्ठारएहि संजुत्ता।
जह पठमं तह तीअ, दह पञ्चविहूसिआ गाहा॥'[1]

संस्कृत छन्दशास्त्र में आर्या के लिए जो नियम निर्धारित हैं वह भी इसी प्रकार का है—

यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थ के पञ्चदशसार्य्या॥

अर्थात् जिस छन्द का प्रथम चरण बारह मात्रा का (स्वर की लघुता एवं गुरुता के परिमाण से) द्वितीय अठारह का, तृतीय बारह और चतुर्थ पन्द्रह का होता है उसका नाम आर्या है। इस प्रकार संस्कृत की आर्या ही प्राकृत का गाथा छन्द है।

'वज्जालग्ग' में जयवल्लभ ने 'गाथा' की सराहना करते हुए कहा है—

अद्धक्खरभणियाण नूण सविलासमुद्धहसियाइ।
अद्धच्छिपेच्छियाइ गाहाहि विणा ण णज्जति॥ ६॥

यही नहीं, आगे कहा है—

गाथा रुवइ वराई सिक्खिजन्ती गवारलोएहिं।
कीरइ लुञ्चपलुञ्चा जह गाई मन्ददोहेहिं॥ १५॥

कवि उमग में यहाँ तक कह गया है कि—

ललित महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कय पढिऊ॥

अर्थात् ललित एवं मधुर, शृंगारिक तथा युवती जन प्रिय गाथा संस्कृत काव्य में कहाँ मिलेगा?

## उपसंहार

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'गाथा सप्तशती' वही रचना नहीं है जिसे 'गाथा कोश' नाम द्वारा अभिहित किया जाता है। 'शालिवाहन

---

१ संस्कृत रूपान्तर—

प्रथम द्वादश मात्रा द्वितीये अष्टादशभि संयुक्ता।
यथा प्रथम तथा तृतीय दशपञ्चविभूषिता गाथा॥

सप्तशती' नामक प्रति से इन छह सहयोगी कवियों के नाम[1] तक का पता चल जाता है जो शालिवाहन के सहायक रहे हैं। अधिकांश प्रतियों की प्रारंभिक सात गाथाएँ इन्हीं द्वारा रचित बतलायी जाती हैं।

आंध्रभृत्य अथवा सातवाहन हाल प्रथम शताब्दी का दाक्षिणात्य राजा था जिसने 'गाथा कोश' का संकलन कराया था। यह स्वयं प्राकृत का कवि भी था। राजशेखर ने 'कर्पूर मंजरी' के विदूषक द्वारा इसकी तुलना कोटीश, हरिचन्द्र और नन्दिचन्द्र आदि प्राकृत कवियों से करायी है। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में सातवाहन राजा द्वारा विशुद्ध जाति के रत्नों के सहस्र सुभाषितों से समन्वित अमाम्य एवं अविनाशी कोश बनाये जाने की चर्चा की है।[2]

राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अन्तःपुर में संस्कृत का और कुंतल सातवाहन के अन्तःपुर में प्राकृत भाषा का प्रचलन था। कुंतल शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' मे भी किया है। डॉ० पीटर्सन के अनुसार सातवाहन कुंतल जनपद का अधिपति था जिसकी राजधानी पैठण ( प्रतिष्ठानपुर ) थी। उसका उपनाम 'हाल' अथवा शतकर्ण था। मलयवती उसकी रानी थी और द्वीपकर्ण उसका पिता था। वह शिववर्मा का मित्र तथा गुणाढ्य का आश्रयदाता था। 'गाथाकोश' नामक एक अभिधान भाण्डारकर इंस्टिट्यूट पूना के संग्रह मे क्रमांक ( ३८६ ) सन् १८८८-८६ और ३८४ सन् १८८७-६१ ईसवी का सुरक्षित है।

विषय वस्तु की दृष्टि से 'गाथा सप्तशती' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रंथ में कृषिजीवी भारतीय जीवन का चित्र अंकित है। इसमें मानवी प्रवृत्तियों एवं चरित्रों का निदर्शन है। यह एक प्रकार से तत्कालीन रीति-नीति तथा आचार-विचार का कोश-ग्रंथ है, जहाँ अधिकतर जन-साधारण का ही जीवन मुखर है। पामर-पामरी,

---

१. वोदित ( वोदिस ), चुल्लुहः, अमरराज, कुमारिल, मकरन्दसेन और श्रीराज।

२. अविनाशिनंमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः।
विशुद्धजातिभिः कोषरत्नैरिव सुभाषितैः॥

हालिक-हालिक पत्नी, नन्दन-दुहिता, गृहिणी-गृहपति और प्रेमी-प्रेमिका के बीच की ग्रामीण उक्तियाँ चित्ताकर्षक होने के साथ-साथ तत्कालीन समाज की कसौटी भी हैं। इसमें प्राचीन भारतीय ग्रामों उनके निवासियों, उनके पारिवारिक जीवन की विशेषताओं–यथा, सभ्यता एवं संस्कृति का चित्रमय परिचय मिलता है। ऐसा लगता है कि इन्हीं को लक्ष्य कर इन गाथाओं की रचना हुई थी। कदाचित् इसी कारण, इसमें स्वभावोक्ति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जो 'शिष्ट समाज' द्वारा लांछित होकर 'अश्लील उक्ति' तक कहलाकर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ शृंगार-रस प्रधान है। इसमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इसी प्रकार संयोग वियोग के मनोहारी उद्‌गार भी प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं। ये ग्रामीण मनोभाव परिमार्जित न होकर अपने प्रकृत रूप में हैं। इनका भीतर-बाहर एक समान है। इसी कारण यह ग्रंथ 'लोक-साहित्य' की तालिका में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। परवर्ती काल के कई कवि और लेखक इस ग्रंथ के भाव तथा शैली के ऋणी हैं।

'गाथा सप्तशती' के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र ग्रंथ अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में प्रथम शतक की ४८वीं गाथा—

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अम्ह दइअस्स।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोप गुणे विआणन्ति॥

अर्थात् हे देव, हमारे प्रियतम के निमित्त दूसरी महिला की आसक्ति का विधान करो, नहीं तो पुरुष एकरस स्वादी हो जायेंगे एवं किसी के गुण-दोष को विशेष भाव से नहीं समझ पायेंगे।

इसकी सामाजिक व्याख्या करना नृतत्व विशारदों अथवा समाज-शास्त्रियों का विषय है। जहाँ तक अपना सम्बध है इस सन्दर्भ में पाठकों का ध्यान मैं राजगृह के बुद्ध भक्त पूर्ण श्रेष्ठि की कन्या उत्तरा-वाली बौद्ध कथा[1] की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जिसका विवाह अबौद्ध परिवार में हुआ था। फलस्वरूप चातुर्मास में वह न तो धर्म श्रवण कर सकती थी और न भिक्षु-भोजन करा पाती थी। एक

१. धम्मपद, कोधवग्गो–३ तथा अट्ठसालिनी नाम धम्मसंगणिप्पकरणट्ठ कथा–१११

दिन उसने अपने पिता के निकट अपनी मनोव्यथा व्यक्त की जिसके उत्तर में उसके पिता ने पन्द्रह हजार कार्षापण उसे इस हेतु दिया कि वह इसे देकर अपने स्वामी की देखभाल के लिए सिरिमा अथवा श्रीमती गणिका को नियुक्त कर दे।

इस प्रकार उत्तरा ने पन्द्रह दिन के लिए श्रीमती को स्थानापन्न कर दिया। वह राजवैद्य तथा प्रधान अमात्य जीवक कौमारभृत्य की कनिष्ठा भगिनी एवं वैशाली की नगर-वधू अम्बपाली की कन्या थी।

यदि उपर्युक्त घटना सच है तो पिता द्वारा अपनी कन्या को उक्त सुझाव देकर उसकी सहायता करना और पत्नी का अपने पति के लिए गणिका नियुक्त करना गाथा को समझने में सहायक हो सकता है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक अथवा प्रचलित सामाजिक प्रथा से उक्त आचरण स्त्रियोचित नहीं जान पड़ता, फिर भी यह कथा एक परोक्ष समाधान प्रस्तुत करती है।

# हिन्दी-गाथासप्तशती

## प्रथम शतक

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दं ।
गहिअग्घपंकअं विअ संझासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥

[ पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखचन्द्रम् ।
गृहीतार्घपङ्कजमिव सन्ध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥ ]

पशुपतिकी संध्या-सलिलाञ्जलिको नमस्कार करें—जिसमें गौरीका (जिसके ध्यानमें मग्न हो अञ्जलि प्रदानकर रहे हैं—इससे उत्पन्न) रोषारुण मुखचन्द्र संक्रान्त हुआ है, एवं इस कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो अर्घपद्म ही ले लिया गया है ॥ १ ॥

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥ २ ॥

[ अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ते ॥ ]

जो अमृत सरीखे प्राकृतकाव्यका पाठ एवं श्रवण करना नहीं जानते वे कामकी तत्त्वचिन्तामें प्रवृत्त हो लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ २ ॥

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाणम् ॥ ३ ॥

[ सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये ।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥ ]

अलङ्कारविभूषित गाथाओंकी कोटिमें से केवल सात सौ गाथाएँ जिन्हें कविवत्सल हाल ने प्रणीत किया या संगृहीत की गई हैं ॥ ३ ॥

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ वलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥ ४ ॥
[ पश्य निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥ ]

देखो, पद्मपत्रके ऊपर बलाका निश्चल एवं निःस्पन्द भावसे अवस्थित हो वैसे ही शोभा पा रही है, जैसे कि निर्मल (शुभ्र) मरकतभाजनके ऊपर शङ्ख-शुक्ति अवस्थित हो ॥ ४ ॥

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलअदलसेच्छआइँ मउलेन्ति णअणाइं ॥ ५ ॥
[ तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥ ]

रतिवेलामें ललनाओंके विभ्रम तभी तक शोभा पाते हैं जब तक कि उनके कुवलय-दलकी-सी सुन्दर कान्तिवाले नयन मुकुलित नहीं हो जाते ॥५॥

णोहलिअमप्पणो किं ण मग्गसे मग्गसे कुरवअस्स।
एअं तुह सुहग हसइ वलिआणणपंकअं जाआ ॥ ६ ॥
[ दोहदमात्मनः किं न मृगयसे मृगयसे कुरवकस्य।
एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्कजं जाया ॥ ]

हे सुभग, तुम अपने कुरवकवृक्षके निमित्त तदीय आलिंगनरूप दोहदकी प्रार्थना कर रहे हो—अपने निजके लिए नहीं। इसी कारण तुम्हारी जाया अपना मुखपद्म तिरछा करके हँस रही है ॥ ६ ॥

ताविज्जन्ति असोएहिँ लडहवणिआओ दइअविरहम्मि।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पहुप्पन्तो ॥ ७ ॥
[ ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे।
किं सहते कोऽपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥ ]

प्राणप्रियके विरहमें विदग्ध वनिताएँ अशोकवृक्ष द्वारा भी तापित होती हैं—प्रभावशाली होनेपर क्या कोई किसीका पादप्रहार सहन करता है? ॥७॥

अत्ता तह रमणिज्जं अह्मं गामस्स मण्डणीहूअं।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डं ॥ ८ ॥
[ श्वश्रु तथा रमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम्।
लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतं बिसिनीषण्डम् ॥ ]

हे श्वश्रु, शिशिर ऋतुने हमलोगोंके ग्रामके शोभास्वरूप उस पद्मखण्डको छिन्नतिलक्षेत्रके समान बना दिया है [ कहीं ऐसा न हो कि संकेतस्थान तिलक्षेत्रपर जार उपस्थित हो ] ॥ ८ ॥

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछित्तेसु।
हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥ ९ ॥
[ किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु।
हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥ ]

पके हुए शालिक्षेत्रोंके सफेद दिखायी पड़नेपर तुम मुखड़ेको नीचे कर रो क्यों रही हो ? पीतपुष्पमंडित शणवाटिका ( तो ) हरिताल द्वारा मण्डित-वदना नटीकी नाईं दिखायी ही पड़ रही है ॥ ९ ॥

सहि ईरिसिव्विअ गई मा रुव्वसु तंसवलिअमुहअन्दं।
एआणँ वालवालुङ्कितन्तुकुडिलाणँ पेम्माणं ॥ १० ॥
[ सखि ईदृश्येव गतिर्मा रोदीस्तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम्।
एतेषां बालकर्कटीतन्तुकुटिलानां प्रेम्णाम् ॥ ]

हे सखि, शिशुकर्कटिका-तन्तुकी ही भाँति प्रणयकी गति कुटिल होती है ( अतः ) अपने मुखचन्द्रको तिरछा कर रोदन मत करो ॥ १० ॥

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहन्तम्मि।
दढमण्णुदूणिआएँ वि हासो घरिणीएँ णिक्कन्तो ॥
[ पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारोहति।
दृढमन्युदूनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ॥ ]

पैरोंपर गिरे हुए पतिकी पीठपर पुत्रको चढ़ते हुए देखकर, कोपके कारण अत्यन्त दुःखित गृहिणी ( के मुँह ) से भी हँसी फूट पड़ी ॥ ११ ॥

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से ॥
[ सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥ ]

हमारी सखी सत्य ही देखना जानती है कि सदृश जनोंमें ही अनुराग उपयुक्त होता है। उसे मरने दो, मैं तुमसे उस ( के जीवन ) के विषयमें कुछ नहीं कहूँगी, उसकी मृत्यु भी श्लाघनीय है ॥ १२ ॥

घरिणीएँ महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्येण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा॥
[ गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषीमलिनितेन हस्तेन।
स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या॥ ]

रन्धनकर्ममें रत, कालिमा द्वारा मलिन हाथसे स्पृष्ट, गृहिणीके मुखड़ेको चन्द्रमाकी दशाको प्राप्त होते देखकर पति हँसता है॥ १३॥

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु, रत्तपाडलसुअन्धं।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ॥ १४॥
[ रन्धकर्मनिपुणिके मा कुप्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम्।
मुखमारुतं पिबन्धूमायते शिखी न प्रज्वलति॥ ]

हे रन्धनकर्मनिपुणिके, खिन्न मत हो। रक्त पाटलपुष्पके-से सुगंधित तुम्हारे मुख-मारुत-पानके उद्देश्यसे ही अग्नि केवल धूमायमान अवस्थामें रह रहा है, प्रज्वलित नहीं हो रहा है॥ १४॥

किं किं दे पडिहासइ सहीहिँ इअ पुच्छिआएँ मुद्धाए।
पढमुग्गअदोहणीएँ णवरं दइअं गआ दिट्ठी॥ १५॥
[ किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः॥

'कौन-कौन सी वस्तु तुम्हें रुचिकर रूपमें प्रतिभासित होती है'—सखियों द्वारा ऐसा पूछा जानेपर प्रथम बार उद्गत गर्भाभिलाषधारिणी मुग्धा रमणी की दृष्टि केवल प्रीतमकी ओर ही गई॥ १५॥

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु।
छित्तो जेहिँ पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं॥१६॥
[ अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश।
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः॥

हे चन्द्र, तुम अमृतमय हो, गगन के शेखर हो एवं रजनी (रूपी नायिका) के मुखतिलक हो—जिन किरणों द्वारा तुमने मेरे प्रीतमका स्पर्श किया है, उन्हीं के द्वारा मेरा भी स्पर्श करो॥ १६॥

एहिइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणँ माला पिअअमम्मि॥ १७॥

[ पुष्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति ।
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥ ]

प्रोषित वे भी लौट आयेंगे, मैं भी कोप-प्रदर्शन करूँगी एवं वे भी अनुनय करेंगे। प्रियतमके संबंधमें इस प्रकारके मनोरथ-समूहोंकी माला किसी भाग्यवतीको ही फलवती होती है ॥ १७ ॥

दुग्गअकुडुम्बअट्ठी कहँ णु मए धोइएण सोढव्वा।
दसिओसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पडएण ॥ १८ ॥

[ दुर्गतकुटुम्बाकृष्टिः कथं नु मया धौतेन सोढव्या।
दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन ॥

'धोए जाने पर मैं दुर्गतकुटुम्बगण द्वारा किये हुए आकर्षणको किस प्रकार सहूँगी—मानो ऐसा ही कहकर वस्त्रखण्ड प्रान्तभाग से विगलित जलके छलसे रोदनकर रही है ॥ १८ ॥

कोसम्बकिसलअवण्णअ तण्णअ उण्णामिएहिँ कण्णेहिँ।
हिअअट्ठिअं घरं वच्चमाण धवलत्तणं पाव ॥ १९ ॥

[ कोशाम्रकिसलयवर्णक तर्णक उन्नामिताभ्यां कर्णाभ्याम्।
हृदयस्थितं गृहं व्रजन्धवलत्वं प्राप्नुहि ॥ ]

हे उन्नमित-कर्ण वत्स, कोप-विनिर्गत-आम्रकिसलयका वर्ण शुभ धारणकर रहे हो—तुम अपने हृदयाभिलषित गृहमें प्रविष्ट हो धवलता प्राप्त करो ॥ १८ ॥

अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥ २० ॥

[ अलीकप्रसुप्तक विनिमीलिताक्ष हे सुभग ममावकाशम्।
गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥ ]

हे सुभग, अलीकनिद्रामें नयनोंको निमीलित करनेपर भी तुम अपने गण्डचुम्बनपर पुलकितांग होते हो, शय्यापर मुझे स्थान दो, मैं अब ऐसी देर नहीं करूँगी ॥ २० ॥

असमत्तमण्डणा विअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स।
वोलाविअहलहलअस्स पुत्ति चित्ते ण लग्गिहिसि ॥ २१ ॥

[ असमाप्तमण्डनैव व्रज गृहं तस्य सकौतूहलस्य।
व्यतिक्रान्तौत्सुक्यस्य पुत्रि चित्ते न लगिष्यसि ॥ ]

उस कौतूहलाक्रान्तके घर, सजावटके पूरे हुए बिना ही प्रवेश करो—हे पुत्रि, यदि उसकी उत्सुकता दूर हो जाय तो हो सकता है कि तुम्हें उसके चित्तमें स्थान न मिले ॥ २१ ॥

आअरपणामिओट्ठं अघडिअणासं असंहअणिडालं।
घण्णघिअलुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥ २२ ॥
[ आदरमणामितौष्ठमघटितनासमसंहतललाटम्।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥ ]

वर्णमिश्रित-घृतद्वारा लिप्तमुखी उस रजस्वला रमणीके परिचुम्बनका स्मरण करता हूँ जिसके लिए उसने आदरपूर्वक ओठ झुका लिया था। परन्तु वर्णचिह्नके भयसे नासिकाको संयोजित नहीं किया एवं ललाटका स्पर्श भी नहीं किया ॥ २२ ॥

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला।
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥ २३ ॥
[ आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला।
प्रातरप्यवनतमुखी इयं सेति प्रियां न श्रद्दध्म ॥ ]

सुरतके समय हर्षसे पुलकितकपोला होकर विलासके संबंधमें सैकड़ों आज्ञाएँ देनेवाली नायिका ही प्रातः होनेपर अवनतमुखी हो गयी है—यह विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ ॥ २३ ॥

पिअविरहो अप्पिअदंसणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं।
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहि जाईएँ ॥ २४ ॥
[ प्रियविरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे।
यया त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै ॥ ]

प्रियजनका विरह एवं अप्रियजनका दर्शन—ये दोनों ही महान् दुःखके कारण हैं—तब भी तुम जिस भाव की प्रेरणा से कार्य करते हो उसी आभिजात्यको नमस्कार करती हूँ ॥ २४ ॥

एक्को वि कह्णसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ २५ ॥
[ एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन्।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥ ]

एक कृष्णसार मृग ही प्रदक्षिणभावसे चलनेपर लोगोंको जाने नहीं देता—प्रियतमाके वाष्पाकुलित दो लोचन किस प्रकार जाने देंगे ? ॥ २५ ॥

ण कुणन्तो व्विअ माणं णिसासु सुहसुत्तदरविउद्धाणं ।
सुण्णइअपासपरिमूसणवेअणं जइ सि जाणन्तो ॥ २६ ॥
[ नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुप्तदरविबुद्धानाम् ।
शून्यीकृतपार्श्वपरिमोषणवेदनां यद्यज्ञास्यः ॥ ]

रात्रिमें सुखसे सोनेवाले व्यक्तियोंमें से कुछ कुछ जागे हुए की शून्यीकृत पार्श्वजनित वेदना यदि तुम जानते तो अपने अपराधको छिपानेके लिए मान न करते ॥ २६ ॥

पणअकुविआणँ दोह्न वि अलिअपसुत्ताणँ माणइल्लाणं ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणँ को मल्लो ॥ २७ ॥
[ प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥ ]

प्रणयकुपित, मिथ्यानिद्रित, मानयुक्त दम्पति जब निःश्वासका निरोधकर निश्चलभावसे एक दूसरेके निःश्वास शब्दपर कान लगाये रहते हैं, तब इन दो के बीच कौन अधिक समर्थ होता है ? ॥ २७ ॥

णवलअपहरं अङ्गे जेहिँ जेहिँ महइ देवरो दाउं ।
रोमञ्चदण्डराई तहिँ तहिँ दीसइ वहूए ॥ २८ ॥
[ नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम् ।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥ ]

नायिकाके अङ्गके जिन जिन स्थानोंपर देवर लता द्वारा प्रहार करनेका इच्छुक है, वधूके उन उन स्थानोंपर रोमाञ्चकण्टकराजि दिखायी पड़ती है ॥२८॥

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइँ संभरन्तीए ।
अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥ २९ ॥
[ अद्य मया तेन विना अनुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।
अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥ ]

उसके विरहमें आज मैं पूर्वानुभूत सुखराशिकी बातें यादकर नव मेघवृन्द की ध्वनिको वध्यपटह-शब्दके रूपमें सुनती हूँ ॥ २९ ॥

णिक्किव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ।
गामो गाम णिणन्दण तुज्झ कए तह वि तणुआइ ॥ ३० ॥
[ निष्कृप जायाभीरुक दुर्दर्शन निम्बकीटसदृक्ष।
ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥ ]

हे ग्रामनायकपुत्र, तुम निर्दय एवं जायाभीरु हो, तुम्हारा दर्शन पाना दुष्कर है; तुम निम्बकीट-सदृश कुरूपा रमणीपर आसक्त हो; तुम्हारे लिए सारा गाँव दुर्बल होता चला जा रहा है ॥ ३० ॥

पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेण लहइ से णिद्दं।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवइ ॥ ३१ ॥
[ प्रहारव्रणमार्गविषमे जाया कृच्छ्रेण लभते तस्य निद्राम्।
ग्रामणीपुत्रस्योरसि पल्ली पुनः सा सुखं स्वपिति ॥ ]

ग्रामणीपुत्रके शस्त्रप्रहारजन्य व्रणचिह्नविषम-वक्षःस्थलके ऊपर उसकी जाया अत्यन्त कष्टसे निद्रालाभ करती है, किन्तु, प्रहारद्वारा गम्य वनमार्ग विषम पुरमें वही पल्ली सुखसे सोती है ॥ ३१ ॥

अह संभाविअमग्गो सुहअ तुए जेव्व णवरँ णिव्वूढो।
एह्णिं हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥ ३२ ॥
[ अयं संभावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः।
इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य ॥ ]

हे सुभग, केवल तुमने सम्भावित श्रेष्ठ जनोंके पथ का अवलंबन किया है— आजकल लोगोंके हृदयमें एक भाव दिखायी पड़ता है और वाक्यमें अन्य भाव॥

उह्णाइँ णीससन्तो किंति मह परम्मुहीएँ सअणद्धे।
हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुट्ठिं पलीवेसि ॥ ३३ ॥
[ उष्णानि निःश्वसन्किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्धे।
हृदयं प्रदीप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदीपयसि ॥ ]

शय्याके अर्धेभागमें मैं पराङ्मुख हो सोया हूँ, तब भी तुम उष्णनिःश्वास त्यागकर अनुशयसे मेरे हृदयको प्रदीपित करती हुई होकर भी मेरे पृष्ठदेशको प्रदीपित करती हो ? ॥ ३३ ॥

तुह विरहे चिरआरअ तिस्सा णिवडन्तवाहमइलेण।
रइरहसिहरघएण व मुहेण छाहि व्विअ ण पत्ता ॥ ३४ ॥

[ तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्बाष्पमलिनेन ।
रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन छायैव न प्राप्ता ॥ ]

हे चिरकारक, तुम्हारे विरहमें निपतित बाष्पद्वारा मलिन उसका मुख छायाका अवलंबन नहीं करता, उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यके रथके शिखरपर स्थित ध्वजा छायाको नहीं प्राप्त होती ॥ ३४ ॥

दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ ३५ ॥
[ देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजकुड्यलिखितानि ।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥ ]

दूषित चित्त देवरके निकट कुलवधू अपनी भित्ति पर चित्रित या लिखित रामानुरक्त सुमित्रानन्दनके चरितको दिनभर वर्णन करती है ॥ ३५ ॥

चत्तरघरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ ।
असई सअज्झिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलं ॥ ३६ ॥
[ चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।
असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥ ]

चौराहेपर जिसका घर हो, फिर भी जो स्त्री प्रियदर्शना हो, जो स्त्री स्वयं तरुणी हो, फिर भी जिसका पति प्रवासी हो, एवं असती कामिनी की पड़ोसिनी होकर भी जो दरिद्रा हो—इस प्रकारकी नारियों का चरित भी खण्डित नहीं होता ( अर्थात् चरप होता है ) ॥ ३६ ॥

तालूरभमाउलखुडिअकेसरो गिरिणईएँ पूरेण ।
दरखुड्डउव्वुड्डणिवुड्डमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥ ३७ ॥
[ जलावर्तभ्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिनद्याः पूरेण ।
दरमग्नोन्मग्ननिमग्नमधुकरो ह्रियते कदम्बः ॥ ]

गिरि नदी के जल प्रवाह में कदम्ब पुष्प बह रहा है, उसका केसर-समूह जलावर्त के भ्रम से आकुल हो खण्डित हो रहा है एवं इसमें भौंरे कभी ईषन्मग्न, कभी उन्मग्न एवं कभी निमग्न हो रहे हैं ॥ ३७ ॥

अहिआअमाणिणो दुग्गअस्स छाहिं पिअस्स रक्खन्ती ।
णिअबन्धवाणं जूरइ घरिणी विहवेण एन्ताणं ॥ ३८ ॥

[ आभिजात्यमानिनो दुर्गतस्य छायां पत्यू रक्षन्ती ।
निजबान्धवेभ्यः कुप्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्भयः ॥ ]

अपने कुलाभिमानी दरिद्र पतिकी छाया रक्षा करनेके लिए गृहिणी धन-समृद्धि लेकर आगत बान्धवजनोंके प्रति विरक्ति प्रकाशित करती है ॥ ३८ ॥

साहीणे वि पिअअमे पत्ते वि छणे ण मण्डिओ अप्पा ।
दुग्गअपउत्थवइअं सअज्झिअं सण्ठन्वतीए ॥ ३९ ॥

[ स्वाधीनेपि प्रियतमे प्राप्तेपि क्षणे न मण्डित आत्मा ।
दुर्गतप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं संस्थापयन्त्या ॥ ]

पतिके दुर्गत एवं प्रवासी होने पर भी अपनेको दृढ़ रखने वाली यह महिला अपने प्रियतमके स्वाधीन होने पर भी एवं उत्सवमें उपस्थित होने पर भी अपने शरीरको मण्डित नहीं कर रही है ॥ ३९ ॥

तुज्झ वसइ त्ति हिअअं इमेहिँ दिट्ठो तुमं ति अच्छीहिं ।
तुह विरहे किसिआइँ ति तीएँ अङ्गाइँ वि पिआइं ॥ ४० ॥

[ तव वसतिरिति हृदयमाभ्यां दृष्टस्त्वमित्यक्षिणी ।
तव विरहे कृशितानीति तस्या अङ्गान्यपि प्रियाणि ॥ ]

उसका हृदय तुम्हारा वास स्थान है, उसके नेत्रद्वय द्वारा तुम देखे जाते हो, एवं उसके अंग तुम्हारे विरह में कृश हैं । इस कारण ये सभी उसे प्रिय प्रतीत होते हैं ॥ ४० ॥

सब्भावणेहभरिए रत्ते रज्जिज्जइ त्ति जुत्तमिणं ।
अणहिअए उण हिअअं जं दिज्जइ तं जणो हसइ ॥ ४१ ॥

[ सद्भावस्नेहभरिते रक्ते रज्यते इति युक्तमिदम् ।
अन्यहृदये पुनर्हृदयं यद्दीयते तज्जनो हसति ॥ ]

संसार सद्भाव एवं स्नेह से पूर्ण जनों पर अनुरक्त होता है यह तो ठीक है किन्तु तुम जो हृदयहीन व्यक्ति को अपना हृदय दे रही हो, इसपर तो लोग हँसेंगे ॥ ४१ ॥

आरम्भन्तस्स धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स ।
तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥ ४२ ॥

[ आरभमाणस्य ध्रुवं लक्ष्मीर्मरणं वा भवति पुरुषस्य ।
तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥ ]

यह तो निश्चय है कि कार्यारम्भकारीको लक्ष्मीलाभ हो सकता है, मृत्यु भी हो सकती है, किन्तु वह मृत्यु तो कार्यारम्भ हुए बिना भी हो जाती है तथापि लक्ष्मी बिना आरम्भ हुए उपस्थित नहीं होती ॥ ४२ ॥

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ ४३ ॥

[ विरहानलः सह्यते आशाबन्धेन वल्लभजनस्य।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥ ]

प्रियजनों का विरहानल आशाके कारण सहन किया जाता है, किन्तु, हे मातः, एक ही ग्राममें वास करनेके कारण यदि प्रवास हो जाय तो यह मृत्युसे भी बढ़कर है ॥ ४३ ॥

अक्खडइ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स।
दिट्ठे सरिसम्मि गुणे असरिसम्मि गुणे अईसन्ते ॥ ४४ ॥

[ आस्खलति प्रिया हृदये अन्यं महिलाजनं रममाणस्य।
दृष्टे सदृशे गुणे असदृशे गुणे अदृश्यमाने ॥ ]

अन्य महिलाओं के साथ रमण करनेवाले हृदयके सदृश गुण दिखायी पड़नेपर भी असदृश गुण दिखनेपर प्रिया जाग उठती है ॥ ४४ ॥

णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ४५ ॥

[ नदीपूरसदृशे यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु।
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥ ]

नदीकी बाढ़की भाँति यौवन अल्पस्थायी है, दिन बीतते जाते हैं एवं रात भी अब लौटकर नहीं आयेंगी। हे पुत्रि, दग्धमान द्वारा क्या मिलेगा? ॥४५॥

फलं किल खरहिअओ पवसिहिइ पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥ ४६ ॥

[ कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने।
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥ ]

ऐसा सुना जाता है कि मेरा क्रूरहृदय प्रियतम प्रातः ही प्रवासार्थ जायेगा, हे निशादेवि, तुम इस प्रकार बढ़ जाओ कि प्रातः हो न हो ॥ ४६ ॥

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥ ४७ ॥

[ भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥ ]

भविष्यमें प्रवासगमनेच्छु व्यक्तिकी जाया, घर-घर घूमकर विदाईके समय प्राण-धारण करनेका रहस्य उनसे पूछ रही है जिन्होंने प्रियका विरह सहन किया है ॥ ४७ ॥

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स ।
पुरिसा एक्कन्तरसा ण हु दोषगुणे विआणन्ति ॥ ४८ ॥

[ अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।
पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥ ]

हे देव, हमारे प्रियतमके निमित्त दूसरी महिलाकी प्रसक्तिका विधान करो, नहीं तो पुरुष एक-रसास्वादी हो जायेंगे एवं किसीके दोष तथा गुणको विशेष भावसे नहीं समझ पायेंगे ॥ ४८ ॥

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ ४९ ॥

[ स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।
आतपभयेन च्छायापि पथिक तत्किं न विश्राम्यसि ॥ ]

हे पथिक, मध्याह्नमें धूपके भयसे छाया भी शरीरमें छिप जाती है, बाहर नहीं निकलती, अतः हमारे यहाँ तुम भी विश्राम क्यों नहीं करते? ॥ ४९ ॥

सुहउच्छअं जणं दुलहं पि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उअआरअ जर जीअं वि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ५० ॥

[ सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन् ।
उपकारक ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥ ]

हे ज्वर, तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। दूरसे हमारे सुखलिप्सु दुर्लभ जनको हमारे निकट लाकर तुम यदि हमारे प्राणको भी ले जा सको तो भी तुम्हे अपराधी नहीं कहूँगी ॥ ५० ॥

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तत्ती ।
सुहउच्छअ सुहअ सुअन्ध अन्ध मा अग्धिअं छिवसु ॥ ५१ ॥

[ आमोज्वरो मे मन्दोऽथवा न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।
सुखपृच्छक सुभग सुगन्धगन्ध मा गन्धितो स्पृश ॥ ]

हे सुखजिज्ञासाकारिन्, हे सुभग, हे सुगन्ध-गन्ध युक्त, मेरा आम ज्वर मन्द है अथवा अमन्द इस विषयमें संसारको चिन्ता क्यों है ? तुम ज्वर की गन्धसे युक्ताको मत छूना ॥ ५१ ॥

सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि ।
दरपुरिसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणँ जं दुःखं ॥ ५२ ॥
[ शिखिपिच्छलुलितकेशे वेपमानोरु विनिमीलितार्धाक्षि ।
ईषत्पुरुषायिते विश्रामशीले जानीहि पुरुषाणां यद्दुःखम् ॥ ]

हे ईषत्पुरुषायित कार्यमें विराम करनेवाली, तुम्हारे केश मयूरपुच्छके समान लुलित हैं, तुम्हारे ऊरुद्वय कम्पमान हैं एवं तुम्हारी आधी आँख विशेष भावसे मुँदी हुई दिखती है । समझ लो पुरुषों को कितनी पीड़ा है ॥ ५२ ॥

पेम्मस्स विरोहिअसंधिअस्स पच्चक्खदिट्ठविलिअस्स ।
उअअस्स व ताविअसीअलस्स विरसो रसो होइ ॥ ५३ ॥
[ प्रेम्णो विरोधितसंधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।
उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥ ]

जो प्रेम पहले विच्छिन्न होकर बाद में सन्धानयुक्त होता है, एवं जिस प्रेम में अपराध प्रत्यक्षतः दिखायी पड़ रहा है, उस प्रेमका रस पहले गरम किये और बाद में ठण्डे किये हुए जलकी भांति विरस हो जाता है ॥ ५३ ॥

वज्जवडणाइरिक्कं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसं ।
पुसिआइं करिमरिएँ सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ॥ ५४ ॥
[ वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम् ।
प्रोञ्छितानि बन्द्या सदृशबन्दीनामपि नयनानि ॥ ]

वज्रपातके शब्द की अपेक्षा अधिक गम्भीर स्वामीके धनुष टंकार शब्द को सुनकर बन्दी अपने जैसे अन्य बन्दियोंके नयनोंको पोंछ दे रही है ॥ ५४ ॥

सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिआ सुरअदुव्विअड्ढेण ।
पम्माअसिरीसाइँ व जह से जाआइँ अंगाइं ॥ ५५ ॥
[ सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥ ]

सहन कर रही है, सहन कर रही है इस प्रकार सुरतकार्यमें दुर्विदग्ध यह वेश्यानायिका पुरुषों द्वारा इस प्रकार रमित होती है कि उसके अङ्ग प्रम्लान शिरीषपुष्पकी भांति हो गये हैं ॥ ५५ ॥

अगणिअसेसजुआण! वालअ वोलीणलोअमज्जाआ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥ ५६ ॥
[ अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥ ]

हे बालक, वह अन्यान्य युवकोंकी गणना नहीं करती, केवल तुम्हारे अन्वेषणमें लोकमर्यादा को त्यागकर दिङ्मुखकी ओर नेत्र प्रसारित कर घूम रही है ॥ ५६ ॥

वन्दिरि अआलगज्जिरजलआसणिपडनपडिरवो एसो।
पइणो धणुरवकङ्खिरि रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ ५७ ॥
[ वन्दि अकालगर्जनशीलजलदाशनिपतनप्रतिरव एषः।
पत्युर्धनूरवाकाङ्क्षणशीले रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥ ]

हे बन्दि, जो सुन रही हो यह तो अकाल गर्जनशील मेघके अशनिपतन की प्रतिध्वनिमात्र है। हे पतिके धनुष-बाणके रवको सुननेकी अभिलाषिणि, व्यर्थ ही रोमाञ्चको क्यों वहन करती हो ॥ ५७ ॥

अज्ज व्वेअ पउत्थो उज्जाअरओ जणस्स अज्जे अ।
अज्जे अ हलिद्दापिञ्जराइँ गोलाणइतडाइँ ॥ ५८ ॥
[ अद्यैव प्रोषित उज्जागरको जनस्याद्यैव।
अद्यैव हरिद्रापिञ्जराणि गोदानदीतटानि ॥ ]

आज ही (मेरा पति) प्रवासमें गया है, आज ही सपत्नियोंका जागना आरंभ हुआ है एवं आज ही गोदावरीका तट प्रदेश हरिद्रा से पिञ्जरवर्ण हुआ है॥५८॥

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्ना ॥ ५९ ॥
[ असदृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥ ]

देवरके दूषित चित्त होनेपर भी बादमें कुटुम्ब-विघटन होनेके भयसे शुद्ध-

चिन्ता वधूने अत्यन्त विषम स्वभाव वाले पतिसे कुछ कहा नहीं, फिर भी वह कृश होती जा रही है ॥ ५९ ॥

चित्ताणिअदइअसमागमम्मि कअमण्णुआइँ भरिऊण।
सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुण्णा ण ओहसिआ ॥ ६० ॥
[ चित्तानीतदयितसमागमे कृतमन्युकानि स्मृत्वा।
शून्यं कलहायमाना सखीभी रुदिता नोपहसिता ॥ ]

चित्तमें आनीत प्रियतमका समागम होनेपर उसके अपने क्रोधके कारणोंको याद कर वृथा कलहकारिणी होनेपर अन्य सखियाँ उसके लिए रोती ही हैं, उसका उपहास नहीं करतीं ॥ ६० ॥

हिअअण्णएहिँ समअं असमत्ताइं पि जह सुहावन्ति।
कज्जाइँ मणे ण तहा इअरेहिँ समाविआइं पि ॥ ६१ ॥
[ हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति।
कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥ ]

मुझे प्रतीत होता है कि हृदयज्ञ पुरुषोंके साथ अचरितार्थ कार्यकलाप जितना सुखदायक होता है, अहृदयज्ञ पुरुषोंके साथ चरितार्थ कार्यकलाप भी उतना सुखदायक नहीं होता ॥ ६१ ॥

दरफुडिअसिप्पिसंपुडणिलुक्कहालाहलग्गपुच्छणिहं।
पक्कम्बट्ठिविणिग्गअकोमलमम्बुङ्कुरं उअह ॥ ६२ ॥
[ ईषत्स्फुटितशुक्तिसंपुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम्।
पक्वाम्रास्थिविनिर्गतकोमलमाम्राङ्कुरं पश्यत ॥ ]

पके हुए आमसे निकले हुए इस अंकुरको देखो। यह जैसे ईषत् स्फुटित शुक्तिसंपुटमें निलीन हलाहलके अग्रपुच्छ सी दिखायी पड़ती है ॥ ६२ ॥

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअपडिलग्गं।
दुल्लक्खसुत्तगुत्थेक्कबउलकुसुमं व मक्कडअं ॥ ६३ ॥
[ पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम्।
दुर्लक्षसूत्रग्रथितैकबकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥ ]

पटलके अन्तरमे विलंबित अपने तन्तुके ऊर्ध्वपादमें प्रतिलग्न मर्कटकको देखो। यह दुर्लक्ष्य सूत्रमें ग्रथित एक बकुलकुसुम सा लक्षित हो रहा है ॥

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआणँ विरुएहिं।
णित्थणइ जाअवेअणँ सूलाहिण्णं व देअउलं ॥ ६४ ॥

[ उपरीपद्दद्दशंकुनिलीनपारावतानां विरुतैः।
निरतनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥ ]

मन्दिरके ऊपरकी ओर कुछ-कुछ दिखायी पड़नेवाली कीलकमें निलीन पारावत गण कूजन द्वारा जैसे देवकुल शूलद्वारा भिन्न हो वेदनासे रव कर रहा है ॥ ६४ ॥

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिँ अङ्गेहिं।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥ ६५ ॥

[ यदि भवति न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गैः।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥ ]

यदि तुम उसकी प्रिय नहीं हो तो प्रतिदिन निःसह अंग लेकर नवप्रसूत पीयूष पानेमें मत्त महिषीवत्सा की भाँति क्यों सोती हो ? ॥ ६५ ॥

हेमन्तिआसु अइदीहरासु राईसु तं सि अविणिद्दा।
चिरअरपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥ ६६ ॥

[ हैमन्तिकास्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा।
चिरतरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यद्दिवा स्वपिषि ॥ ]

हे रमणी, तुम्हारा प्रिय बहुत समयके लिए प्रवासमें गया है, तुम हेमन्त ऋतुकी इस अतिदीर्घ रात्रिमें निद्राविच्छेदका अनुभव न करके भी दिनके समय सोई रहती हो, यह सुन्दर कार्य नहीं है ॥ ६६ ॥

जइ चिक्खल्लभउप्पअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णं।
ता सुहअ कण्टइज्जन्तमंगमेह्लिं किणो वहसि ॥ ६७ ॥

[ यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम्।
तत्सुभगकण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि ॥ ]

यदि वह अलसायमान पङ्कके भयसे छलाङ्ग मारकर तुम्हारे पैरपर यह पैर निक्षेप कर रही है, ऐसा होने पर, हे सुभग, अब तुम अपने रोमाञ्चित अङ्ग क्यों वहन कर रहे हो ? ॥ ६७ ॥

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहा व्व पुण्णिमाअन्दो।
अन्तविरसो व्व कामो असंपआणो अ परिओसो ॥ ६८ ॥

[ प्राप्तः क्षणो न शोभते अतिप्रभात इव पूर्णिमाचन्द्रः।
अन्तविरस इव कामोऽसम्प्रदानश्च परितोषः ॥ ]

अत्यन्त सबेरे पूर्णिमाका चन्द्र, अवसानपर रसशून्य कामना एवं संप्रदान-रहित परितोष, जिस प्रकार शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार उत्सव उपस्थित हो जानेपर ही शोभा नहीं रह जाती ॥ ६८ ॥

पाणिग्गहणे व्विअ पव्वईएँ णाअं सहीहिं सोहग्गं।
पसुवइणा वासुइकङ्कणम्मि ओसारिए दूरं ॥ ६९ ॥
[ पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम्।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणेऽपसारिते दूरम् ॥ ]

पाणिग्रहणके ही समय पशुपतिको वासुकिरूप कङ्कण दूर करते देख सखियोंने पार्वतीका सौभाग्य जान लिया ॥ ६९ ॥

गिह्मे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइं ॥ ७० ॥
[ ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥ ]

हे प्रोषितपतिके, आश्वस्त हो जाओ, ग्रीष्मकालमें दावानलकी मसिद्वारा मलिनित वे विन्ध्यशिखर समूह दिखायी पड़ते हैं, वे नववर्षाकी मेघमाला नहीं हैं ॥

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिव्वोढुं देसु तेत्तिअं पणअं।
ण जणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणक्खमो सव्वो ॥ ७१ ॥
[ यावन्मात्रं शक्यते निर्वोढुं देहि तावन्तं प्रणयम्।
न जनो विनिवृत्तप्रसाददुःखसहनक्षमः सर्वः ॥ ]

जितना प्रणय निःशेष भावसे वहन किया जा सकता है, उतना ही प्रणय दो। कारण, प्रसादविनिवृत्त होनेपर तज्जनित दुःख सहनेमें सभी समर्थ नहीं होते ॥ ७१ ॥

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं व बहुअं व ॥ ७२ ॥
[ बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥ ]

जो नायक अनेक प्रियाओंको अनुगृहीत करता है, उसकी जो कोई प्रिया हो वह पाँच दिन तक ही उसकी परीक्षा करती है। वह क्या छठे दिन तक

प्रतीक्षा करती है, कारण जो अनुकूल वा मधुर होता है उसे अधिक पाना सुकृतसापेक्ष है॥ ७२ ॥

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तं ॥ ७३ ॥
[ यद्यत्स निर्ध्यायत्यङ्गावकाशं ममानिमिषाक्षः ।
प्रच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेन दृश्यमानम् ॥ ]

मेरे जिन जिन अङ्गावकाशोंकी ओर वह एकटक देखता है, उन अङ्गावकाशों को मैं प्रच्छादित भी करती हूँ, और फिर वह भी इच्छा करती हूँ कि वह उन्हें देखे ॥ ७३ ॥

दिढमण्णुदूणिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छइ इमाए।
ओसरइ वालुआमुट्ठि उव्व माणो सुरसुरन्तो ॥ ७४ ॥
[ दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया ।
अपसरति वालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥ ]

देखो, कोपवश अत्यन्त व्यथित हो उसने प्रियतम से मान किया है, किन्तु वह मान बालुकामुष्टि की भाँति सुर्-सुर् कर अपसृत हो जाता है ॥७४॥

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओँ ओअरइ।
णह सिरिकण्ठब्भट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥ ७५ ॥
[ पश्य पद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति ।
नभःश्रीकण्ठभ्रष्टेव कण्ठिका कीरपंक्तिः ॥ ]

देखो, नभलक्ष्मीके कण्ठदेशसे अवतरित, पद्मराग एवं मरकतद्वारा संवलित कण्ठिकानामक हारयष्टीके समान आकाशतलसे शुकपंक्ति उतर रही है ॥ ७५ ॥

ण वि तह विएसवासो दोगच्चं मह जणेइ संतावं।
आसंसिअत्थविमणो जह पणइजणो णिअत्तन्तो ॥ ७६ ॥
[ नापि तथा विदेशवासो दौर्गत्यं मम जनयति सन्तापम् ।
आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥ ]

मेरा विदेशमें वास एवं अपनी दुर्गति उतना सन्ताप नहीं उत्पन्न करती जितना प्रणयी जन आशंसित विषयसे विमुख वा विमना होनेके उपरान्त प्रत्यावर्त्तन कर संताप उत्पन्न करते हैं ॥ ७६ ॥

खन्धग्गिणा वणेसुं तणेहिँ गामम्मि रक्खिओ पहिओ।
णअरवसिओ णडिज्जइ सासुसएण व्व सीएण ॥ ७७ ॥

[ स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैर्ग्रामे रक्षितः पथिकः ।
नगरोषितः खिद्यते सानुशयेनेव शीतेन ॥ ]

जो पथिक वनोंमें स्थूल काष्ठाग्नि द्वारा एवं ग्रामोंमें तृण द्वारा शीतसे अपनी रक्षा करता है वह नगरमें वास करने जाकर अनुशययुक्त शीत द्वारा जैसे खिन्न हो रहा है ॥ ७७ ॥

भरिमो से गहिआहरधुअसीसपहोलिरालआउलिअं ।
वअणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्णकमलं व ॥ ७८ ॥

[ स्मरामस्तस्या गृहीताधरधुतशीर्षप्रघूर्णनशीलालकाकुलितम् ।
वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥ ]

चुम्बनार्थ अधर गृहीत हो जानेपर, शीर्षकम्पनके साथ एवं कुन्तलघूर्णनसे आकुलित उसका मुख स्मरण करता हूँ, मानो वह परिमलके लोभसे तरलित भ्रमरकुलद्वारा प्रकीर्ण एक कमलके समान दिखायी पड़ा था ॥ ७८ ॥

हलुफलण्हाणपसाहिआणँ छणवासरे सवत्तीणं ।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ॥ ७९ ॥

[ उत्साहतरलस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम् ।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥ ]

उत्सवके दिन उत्साहचाञ्चल्यमें स्नानद्वारा प्रसाधित सपत्नियोंके निकट केवल उस आर्याने ही मज्जनमें अनादर दिखाकर अपना सौभाग्य सूचित किया है ॥ ७९ ॥

ह्लाणहलिद्दाभरिअन्तराइँ जालाइँ जालवलअस्स ।
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थं ॥ ८० ॥

[ स्नानहरिद्राभरितान्तराणि जालानि जालवलयस्य ।
शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम् ॥ ]

स्नान-हरिद्रासे भरितान्तर तुम्हारा केशसम्मार्जनीके जालोंको क्षुद्र वंशकण्टक द्वारा शोधित कर तुम किस सौभाग्यवान्‌को कृतार्थ करोगी ॥ ८० ॥

अद्दंसणेण पेम्मं अवेइ अइदंसणेण वि अवेइ ।
पिसुणजणजम्पिएण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥ ८१ ॥

[ अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति ।
पिशुनजनजल्पितेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥ ]

प्रेम बिना देखे दूर हो जाता है, अत्यन्त देखनेपर भी दूर हो जाता है, खलों की कुवाणीसे भी दूर हो जाता है और अनायास भी दूर हो जाता है ॥ ८१ ॥

अद्दंसणेण महिलाअणस्स अइदंसणेण णीअस्स ।
मुक्खस्स पिसुणअणजम्पिएण एमेअ वि खलस्स ॥ ८२ ॥
[ अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्य ।
मूर्खस्य पिशुनजनजल्पितेनैवमेवापि खलस्य ॥ ]

महिलाओंका प्रेम बिना देखे, नीचोंका प्रेम अधिक देखे जानेपर, मूर्खोंका प्रेम दुष्टोंके वाक्य से एवं खलका प्रेम अकारण ही दूर हो जाता है ॥ ८२ ॥

पोट्टपडिएहिँ दुक्खं अच्छिज्जइ उण्णएहिँ होऊण ।
इअ चिन्तिआणँ मण्णे थणाणँ कसणं मुहं जाअं ॥ ८३ ॥
[ उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयते उन्नताभ्यां भूत्वा ।
इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं मुखं जातम् ॥ ]

पहले उन्नत रहनेपर भी प्रसवके अन्तमें उदरपर्यन्त गिर जानेपर भी कष्टमें रहना होगा; ऐसा लगता है कि यही सोचकर दोनों स्तनोंका अगला भाग काला हो गया है ॥ ८३ ॥

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिला हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णं ॥ ८४ ॥
[ स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्रः ।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ॥ ]

हे सुन्दरि, तुम्हारे लिए वह रूपवद्भार्य हालिकपुत्र इतना क्षीण हो गया है कि उसकी जायाने मत्सरिणी होनेपर भी उसके लिए स्वयं दूतीका कार्य करना स्वीकार किया है ॥ ८४ ॥

दक्खिण्णेण वि एन्तो सुहअ सुहावेसि अह्म हिअआइं ।
णिक्कइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणं ॥ ८५ ॥
[ दाक्षिण्येनाप्यागच्छन्सुभग सुखयस्यस्माकं हृदयानि ।
निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥ ]

हे सुभग, दाक्षिण्यवश हमलोगों के निकट उपस्थित होकर भी हमलोगों को इतना सुखी करते हो और जिनके निकट अकपट ही चले जाते हो उनको न जाने कितना आनन्द होता होगा ॥ ८५ ॥

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो ।
सो वि हसन्तीएँ मए गहिओ बीएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥
[ एकं प्रहारोद्विग्नं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन् ।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥ ]

प्रहारकार्यमें उद्विग्न मेरे एक हाथको मुखमारुतद्वारा वीजन किये जानेपर मैंने हँसते-हँसते दूसरे हाथ द्वारा उसका कण्ठग्रहण कर लिया ॥ ८६ ॥

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स ।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहट्ठिअं हिअअं ॥ ८७ ॥
[ अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य ।
पृष्ठपुलकोद्गमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम् ॥ ]

हे मानिनि, मान अवलंबन कर पराङ्मुखी होनेपर भी तुम अपने पीठपर रोमांचके उद्गमद्वारा आगमनकारी प्रियतमके निकट अपना हृदय सम्मुखस्थित रूपसे ही सूचित करती हो ॥ ८७ ॥

जाणइ जाणावेउं अणुणअविद्दविअमाणपरिसेसं ।
अइरिक्कम्मि वि विणआवलम्बणं सच्चिअ कुणन्ती ॥ ८८ ॥
[ जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम् ।
विजनेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ॥ ]

एकान्तमें सुरतके समय विनयका अवलंबनकर प्रियतमके अनुनयसे दूरीकृत मानके परिशिष्टको स्थापित करना केवल वही जानती है ॥ ८८ ॥

मुहमारुएण तं कह्न गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो ।
एताणँ वल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि ॥ ८९ ॥
[ मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन् ।
एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥ ]

हे कृष्ण, तुम अपने मुखमारुतद्वारा राधिकाके चक्षुसे धूलि अथवा गोधूलि हटाकर, पुरोवर्तिनी अन्यान्य गोपीगणोंका गौरव या गौरता हरणकरते हो ॥८९॥

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ता हे ।
अवराहाणँ अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु ॥ ९० ॥
[ किं तावत्कृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानीम् ।
अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम् ॥ ]

हे सुभग, जिन अपराधोंको तुमने किया है, अभी कर रहे हो एवं आगे करोगे, हे निर्लज्ज, उनमेंसे किन अपराधोंको मैं क्षमा कर सकती हूँ, यह बताओ तो ॥

गूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति ।
ते व्विअ महिलाणँ पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ ॥ ९१ ॥

[ गोपायन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति ।
त एव महिलानां प्रिया शेषा स्वामिन एव वराका ॥ ]

जो पुरुष कान्ता विषयमें अपना प्रभुत्व गोपन कर रखते हैं एवं जो दासकी भाँति कुपिता कान्ताको अनुनय द्वारा प्रसन्न रखते हैं, वे ही महिलाओंके प्रिय होते हैं, और इतर पुरुष सिर्फ स्वामी शब्द द्वारा पुकारे जाते हैं ॥ ९१ ॥

तइआ कअग्घ महुअर ण रमसि अण्णासु पुप्फजाईसु ।
बद्धफलभारगुरुइं मालइँ एह्णि परिच्चअसि ॥ ९२ ॥

[ तदा कृतार्घ मधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु ।
बद्धफलभारगुर्वीं मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥ ]

हे मधुकर, उस समय कृतघ्न होकर अथवा मालतीके प्रति आदरवश तुम अन्यान्य पुष्पोंमें अनुरक्त नहीं हुए। अब बद्धफलभारसे विनत मालतीका परित्याग कर रहे हो ॥ ९२ ॥

अविअह्णपेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि तेण दिट्ठेण ।
सिविणअपीएण व पाणिएण तण्ह व्विअ ण फिट्टा ॥ ९३ ॥

[ अवितृष्णप्रेक्षणीयेन तत्क्षणं मातुलानि तेन दृष्टेन ।
स्वप्नपीतेनेव पानीयेन तृष्णैव न भ्रष्टा ॥ ]

हे मामी, स्वप्नमें पीये हुए जल द्वारा प्यासके मिटनेकी भाँति, अतृप्तनयनसे उसे देखनेकी मेरी प्यास दूर नहीं हुई है ॥ ९३ ॥

सुअणो जं देसमलंकरेइ तं विअ करेइ पवसन्तो ।
गामासण्णुम्मूलिअमहावडट्ठाणसारिच्छं ॥ ९४ ॥

[ सुजनो य देशमलंकरोति तमेव करोति प्रवसन् ।
ग्रामासन्नोन्मूलितमहावटस्थानसदृशम् ॥ ]

अच्छे व्यक्ति जिस देशको अपने निवास द्वारा अलंकृत करते हैं उसी देशसे

यथार्थ आकर वे ही ग्रामासन्न उन्मूलित महावटवृक्षस्थानकी भाँति उसे दुःखदायक कर डालते हैं ॥ ९४ ॥

सो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअव्वं च कअं गअं च पेम्मं णिरालम्बं ॥ ९५ ॥
[ स नाम संस्मर्यते प्रभ्रष्टो यः क्षणमपि हृदयात् ।
स्मर्तव्यं च कृतं गतं च प्रेम निरालम्बम् ॥ ]

स्मरण रखनेकी बात उसके ही विषयमें जँचती है, क्षणभरके लिए भी हृदयसे जिसके निकल जानेकी संभावना है। जिस क्षण प्रेम स्मरणयोग्य हो जाता है, उसी क्षण वह आलम्बनशून्य हो जाता है ॥ ९५ ॥

णासं व सा कवोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं बाला ।
उब्भिण्णपुलअवइवेढपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥
[ न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं बाला ।
उद्भिन्नपुलकवृतिवेष्टपरिगतं रक्षति वराकी ॥ ]

वह दीना बाला आजतक अपने कपोलपर तुम्हारे द्वारा दिये हुए मण्डलाकृति दन्तक्षतको न्यासके रूपमें सम्हालकर रखे हुए है, जैसेकि वह क्षतस्थान चतुर्दिक् में विकसित रोमांचवृति वेढा द्वारा वेष्टित है ॥ ९६ ॥

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ ।
कज्जाइँ व्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स ॥ ९७ ॥
[ दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः ।
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥ ]

आम्रांकुर देखा गया है, सुरा पीयी गयी है एवं दक्षिणपवनको भी सहन किया गया है। उसका अर्थात् नायकका कार्यसमूह ही गुरुतर प्रतीत होता है, अतः हे मामी, कौन किसका प्रिय है ॥ ९७ ॥

रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिउं पडिणिउत्तो ।
अहअं पउत्थपइआ व्व तक्खणं सो पवासि व्व ॥ ९८ ॥
[ रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥ ]

रमणके उपरान्त वह एक पग भी चलकर जब आलिंगनके लिए प्रतिनिवृत्त होता है, तब मैं अपनेको प्रोषितपतिका एवं उसको प्रवासी समझती हूँ ॥ ९८ ॥

अविइण्हपेच्छणिज्जं समसुहदुःखं विइण्णसब्भावं।
अण्णोण्णहिअअलग्गं पुण्णेहिँ जणो जणँ लहइ ॥ ९९ ॥
[ अवितृष्णप्रेक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसद्भावम् ।
अन्योन्यहृदयलग्नं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥ ]

जो पुरुष प्यासे नयनोंसे दर्शनीय, सुखदुःखके समय सद्भावविवरणमें समर्थ एवं परस्परके हृदयोंमें लग्न होने योग्य है, ऐसे पुरुषको कोई स्त्री बड़े भाग्यसे ही पाती है ॥ ९९ ॥

दुःखं देन्तो वि सुहं जणेइ जो जस्स वल्लहो होइ।
दइअणहदूमिआणं वि वड्ढइ थणाणँ रोमञ्चो ॥ १०० ॥
[ दुःखं ददद्पि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।
दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः ॥ ]

जो जिसका प्रिय है, वह दुःख दिये जानेपर भी सुख उत्पन्न करता है। प्रियके नखद्वारा खिन्न स्तनद्वय भी रोमांचमें फूल जाते हैं ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मविए।
सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

कविवत्सलप्रमुखसुकविरचित, रसिकोंके हृदयहार सप्तशतीमें यह प्रथम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

# द्वितीय शतक

घरिओ घरिओ विअलइ उअएसो पिइसहीहिँ दिज्जन्तो ।
मअरद्धअबाणपहारजज्जरे तीएँ हिअअम्मि ॥ १ ॥
[ घृतो घृतो विगलत्युपदेशः प्रियसखीभिर्दीयमानः ।
मकरध्वजबाणप्रहारजर्जरे तस्या हृदये ॥ ]

कामदेवके बाण-प्रहारसे जर्जरित उसके हृदयमें प्रियसखियोंद्वारा दीयमान मान करनेका उपदेश बारबार ग्रहण करने पर भी विगलित हो जाता है ॥ १ ॥

तडसंठिअणीडेक्कन्तपीलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा ।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥
[ तटसंस्थितनीडैकान्तशावकरक्षणैकदत्तमनाः ।
अगणितविनिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥ ]

तटसंस्थित नीड़में वर्त्तमान शावककुलके रक्षणमें एकान्त मनोनिवेशकारिणी काकी तट तरुके मज्जनान्तर अपने गिरनेके भयको न गिनकर जलप्रवाहकके साथ बहती जा रही है ॥ २ ॥

बहुपुप्फभरोणामिअभूमीगअसाह सुणसु विण्णत्तिं ।
गोलातडविअडकुडङ्ग महुअ सणिअं गलिज्जासु ॥ ३ ॥
[ बहुपुष्पभरावनामितभूमीगतशाख शृणु विज्ञप्तिम् ।
गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक शनैर्गलिष्यसि ॥ ]

हे गोदावरीके तटस्थ विकटनिकुञ्जस्थित मधूकवृक्ष, तुम्हारी शाखाएँ अनेक पुष्पोंके भारसे पृथ्वीपर्यन्त झुक गयी हैं, तुम मेरी विज्ञति सुन लो—तुमको धीरे-धीरे विगलितपुष्प होना पड़ेगा ॥ ३ ॥

णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं ।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआइँ रुअई समुच्चिणइ ॥ ४ ॥
[ निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि ।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रोदनशीला समुच्चिनोति ॥ ]

असती चितामें अवस्थित बंधुओंके सर्वपरिशिष्ट अस्थिसमूहकी नाईं दुःखावलोकित सर्वपरिशिष्ट मधूक पुष्पसमूह रोदन करते-करते चयन कर रही है ॥ ४ ॥

ओ हिअअ मडहसरिआजलरअहीरन्तदीहदारु व्व ।
ठाणे ठाणे व्विअ लग्गमाण केणावि डज्झिहसि ॥ ५ ॥
[ हे हृदय स्वल्पसरिज्जलरयह्रियमाणदीर्घदारुवत् ।
स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे ॥ ]

हे हृदय, स्वल्पतोया नदीके जलके वेगमें छिपते हुए दीर्घ काष्ठकी भाँति जगह-जगह लगकर स्थानेपर भी किसीके द्वारा तुम दग्ध होओगे ॥ ५ ॥

जो तीएँ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण ।
सो व्विअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥ ६ ॥
[ यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्वासित प्रियतमेन ।
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु संक्रान्तः ॥ ]

उसका जो अधरराग रातमें प्रियतमद्वारा निरन्तर अधरपानवश पोंछ डाला गया है, वही रक्तिमा प्रातःकाल होनेपर सपत्नियोंके नेत्रोंमें संक्रान्त देखी जाती है ॥ ६ ॥

गोलाअडट्ठिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा ।
आढत्ता उत्तरिउं दुक्खुत्ताराएँ पअवीए ॥ ७ ॥
[ गोदावरीतटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिसुतं हलिकस्नुषा ।
आरब्धा उत्तरीतुं दुःखोत्तारया पदव्या ॥ ]

हालिककी पुत्रवधूने गृहपतिपुत्र अर्थात् अपने कान्तको गोदावरीतटपर खड़ा हुआ देखकर अत्यन्त कष्टसे उत्तरीमार्गसे अवतरण करना प्रारम्भ किया ॥

चलणोआसणिसण्णस्स तस्स भरिमो अणालवन्तस्स ।
पाअङ्गुट्ठावेट्ठिअकेसदिढाअड्ढणसुहेल्लिं ॥ ८ ॥
[ चरणावकाशनिषण्णस्य तस्य स्मरामोऽनालपतः ।
पादाङ्गुष्ठावेष्टितकेशदृढाकर्षणसुखम् ॥ ]

मेरे चरणोंमें चुपचाप बैठे हुए एवं भयसे निर्वाक् उसके मनमें मेरे पादांगुष्ठद्वारा आवेष्टित उसके केशगुच्छके दृढ़ आकर्षणसे जो सुख उत्पन्न हुआ था, वही मुझे याद आ रहा है ॥ ८ ॥

फालेइ अच्छभल्लं व उअह कुग्गामदेउलद्दारे।
हेमन्तआलपहिओ विज्झाअन्तं पलालग्गिं ॥ ९ ॥
[ पाटयत्यच्छभल्लमिव पश्यत कुग्रामदेवकुलद्वारे।
हेमन्तकालपथिको विध्मायमानं पलालाग्निम् ॥ ]

तुम लोग देखो, बुरे ग्रामके मन्दिर द्वारपर हेमन्तकालीन पथिक निर्वाण-प्राय पलालाग्निको भालकी भाँति फाड़ रहा है ॥ ९ ॥

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केणावि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं छूढं ॥ १० ॥
[ कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः।
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ ]

हे बुआ, नहीं जानता गाँवकी तलैयामें आकाशको तानकर किसने गिरा दिया है, तथापि वहाँपर कमलकुल उपमर्दित नहीं हुआ है, हंस भी वहाँसे उड़ नहीं गये हैं ॥ १० ॥

केण मणे भग्गमणोरहेण संलाविअं पवासो त्ति।
सविसाइँ व अलसाअन्ति जेण वहुआएँ अङ्गाइं ॥ ११ ॥
[ केन मन्ये भग्नमनोरथेन संलापितं प्रवास इति।
सविषाणीवालसायन्ते येन वध्वा अङ्गानि ॥ ]

ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसीने भग्नमनोरथ होकर प्रवासगमनके सम्बंधमें बात किया है। इसी कारण, वधूके अंग-प्रत्यंगोंने जैसे विषदग्ध होनेसे कार्यपटुताको छोड़ दिया है ॥ ११ ॥

अज्ज वि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥ १२ ॥
[ अद्यापि बालो दामोदर इति इति जल्पिते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥ ]

आजतक दामोदरका मेरे निकट बचपन ही रह गया है, यशोदाके ऐसा कहनेपर व्रजवधूटियाँ कृष्णके मुखकी ओर आँख फिराकर गोपनभावसे हँसीं ॥ १२ ॥

ते विरला सप्पुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ।
अणुदिअह वड्ढमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥ १३ ॥

[ ते विरला सत्पुरुषा येषां स्नेहोऽभिन्न मुखरागः ।
अनुदिवसवर्धमान ऋणमिव पुत्रेषु संक्रामति ॥ ]

वे सत्पुरुष विरले ही हैं जिनका अमन्दीभूत मुखरागयुक्त स्नेह प्रतिदिन सवर्द्धित होकर पितृ ऋणकी भाँति पुत्रोंमें भी सक्रान्त होता है ॥ १३ ॥

णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी ।
सरिसगोविआणँ चुम्बइ कवोलपडिमागअं कण्हं ॥ १४ ॥
[ नर्तनश्लाघननिभेन पार्श्वपरिसंस्थिता निपुणगोपी ।
सदृशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागत कृष्णम् ॥ ]

पासमें खड़ी हुई निपुण गोपी नृत्यश्लाघाके बहाने अनुराग सम्पन्न अपनी जैसी गोपियोंके कपोलपर प्रतिबिम्बित कृष्णकी प्रतिमाको अलक्षितभावसे चूम रही है ॥ १४ ॥

सव्वत्थ दिसामुहपसरिएहिँ अण्णोण्णकडअलग्गेहिं ।
छल्लिं व्व मुअइ विञ्झो मेहेहिँ विसंघडन्तेहिं ॥ १५ ॥
[ सर्वत्र दिशामुखप्रसृतैरन्योन्यकटकलग्नैः ।
छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्यो मेघैर्विसंघटमानैः ॥ ]

पर्वतके प्रतिनितम्बमें लग्न, बादमें विघटमान होकर सारी दिशाओंमें फैले हुए मेघसमूहको देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है मानो विन्ध्यपर्वत अपने शरीरसे छिल्ली छोड़ रहा है ॥ १५ ॥

आलोअन्ति पुलिन्दा पव्वअसिहरट्ठिआ धणुणिसण्णा ।
हत्थिउलेहिँ व विञ्झं पूरिज्जन्तं णवब्भेहिं ॥ १६ ॥
[ आलोकयन्ति पुलिन्दा पर्वतशिखरस्थिता धनुर्निषण्णाः ।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाभ्रैः ॥ ]

पर्वतके शिखर पर धनुष लेकर बैठे हुए पुलिन्दगण विन्ध्य पर्वतको हस्तिकुल सदृश कृष्णकाय नव मेघमाला द्वारा परिपूर्यमाण देखते हैं ॥ १६ ॥

वणदवमसिमइलङ्गो रेहइ विञ्झो घणेहिँ धवलेहिं ।
खीरोअमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥ १७ ॥
[ वनदवमषीमलिनाङ्गो राजते विन्ध्यो घनैर्धवलैः ।
क्षीरोदमथनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥ ]

दावाग्निकी मसि द्वारा मलिनित देह वाला विन्ध्याचल धवल मेघसमूह

द्वारा आप्लुत होकर, क्षीरसागरके मथनमें उछाले हुए दुग्ध द्वारा सिक्त मधु मथनविष्णुकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १७ ॥

वन्दीअ णिहअवन्धवविमणाइ वि पक्कलो त्ति चोरजुआ ।
अणुराएण पलोइओ, गुणेसु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥
[ वन्द्या निहितबान्धवविमनस्कयापि प्रवीर इति चोरयुवा ।
अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥ ]

बान्धवोंके मारे जाने पर विमनस्का बन्दिनी युवती चोर युवकको शौर्यादि-गुण सम्पन्न प्रवीर समझकर अनुरागसे देख रही थी—गुणवैभव देखने पर मात्सर्य प्रदर्शन कौन करता है ॥

अज्ज कइमो वि दिअहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मत्ता ।
सोहग्गं धणुरुम्पच्छलेण रच्छासु विक्किरइ ॥ १९ ॥
[ अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।
सौभाग्यं धनुस्त्वक्छलेन रथ्यासु विकिरति ॥ ]

आज कितने दिन हो गए, रूप एवं यौवनमें उन्मत्त व्याधवधू धनुके सूक्ष्म-त्वक्के निक्षेपके बहाने अपने सौभाग्यको रथ्यापर निक्षेप कर रही है ॥ १९ ॥

उक्खिप्पइ मण्डलिमारुएण गेहङ्गणाहि वाहीए ।
सोहग्गधअवडाअ व्व उअह धणुरुम्परिञ्छोली ॥ २० ॥
[ उत्क्षिप्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधस्त्रियाः ।
सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुः सूक्ष्मत्वक्पङ्क्तिः ॥ ]

व्याधवधूके गृहाङ्गणसे अपने सौभाग्यके ध्वजपताकारूपिणी धनुकी सूक्ष्म-त्वक्पंक्ति मण्डलवायुद्वारा उड़ायी जा रही है—देखो ॥ २० ॥

गअगण्डत्थलणिहसणमअमइलीकअकरञ्जसाहाहिं ।
पत्तीअ कुलहराओ णाअं वाहीअ पइमरणं ॥ २१ ॥
[ गजगण्डस्थलनिघर्षणमदमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः ।
आगच्छन्त्या कुलगृहाज्ज्ञातं व्याधस्त्रिया पतिमरणम् ॥ ]

पिताके घरसे लौटकर व्याधवधूने हाथीके गण्डस्थलकेघर्षणसे उत्पन्न मदद्वारा मलिनीकृत करञ्ज शाखासमूहको देखकर अपने पतिके मृत्युको समझा था ॥

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरणीअ रक्खन्तो ।
आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रण्णं धणुं वाहो ॥ २२ ॥

[ नववधूप्रेमतनूकृतः प्रणयं प्रथमगृहिण्या रक्षन्।
तनूकृतदुराकर्षमपि नयत्यरण्यं धनुर्व्याधः ॥ ]

नववधूके प्रेममें अत्यन्त कृशतनु होनेपर भी व्याध प्रथमगृहिणीके प्रणयकी रक्षाकरनेके निमित्त तनुकृत एवं दुराकर्ष धनुषको अरण्यमें वहन कर लेता है ॥ २२ ॥

हासाविओ जणो सामलीअ पढमं पसूअमाणाए।
वल्लहवाएण अलं मम त्ति बहुसो भणन्तीए ॥ २३ ॥

[ हासितो जनः श्यामया प्रथमं प्रसूयमानया।
वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या ॥ ]

प्रियतमकी बातोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, अनेकबार ऐसा कहकर प्रथमप्रसवकारिणी श्यामलाने सबको हँसाया है ॥ २३ ॥

कइअवरहिअं पेम्मं ण त्थि व्विअ मामि माणुसे लोए।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होत्तम्मि को जिअइ ॥ २४ ॥

[ कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके।
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥ ]

हे मामी, मानवजगतमें कपटताशून्य प्रेम जैसे एकदम नहीं है—यदि ऐसा होता तो क्या किसीको विरह होता ? विरह होनेपर भी क्या कोई जीवित रहता ॥ २४ ॥

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअपाणं व।
आसि म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥

[ आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव।
आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ॥ ]

विवस्त्रावस्थामें उसका दर्शन मुझे उसी क्षण अद्भुतरूप, निधिप्राप्तिरूप, स्वर्गराज्यलाभरूप, यहाँतक कि अमृतपानरूप प्रतीयमान हुआ था ॥ २५ ॥

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥ २६ ॥

[ सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम्।
बालक स्फुटं भणामः प्रेम किल बहुविकारमिति ॥ ]

वह अन्य रमणी तुम्हारी प्रिया है, तुम हमारे प्रिय हो, तुम उसके द्वेष्य हो

पूर्व मैं तुम्हारा द्वेष्य हूँ—हे बालक, स्पष्टतः कहती हूँ कि प्रेम अनेक प्रकारोंसे विकार युक्त होता है ॥ २६ ॥

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइँ।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥ २७ ॥
[ अहं लज्जालुतरा चोन्मत्सराणि प्रेमाणि ।
सखीजनोऽपि निपुणोऽलमस्तु किं पादरागेण ॥ ]

मैं स्वयं लज्जाशीला हूँ, उसका प्रेम भी अत्यंत उत्कट है एवं सखियाँ भी प्रेमाविष्कारमें अत्यन्त निपुण हैं। अतः निषेध करती हूँ, पादरागप्रयोगकी आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

महुमासमारुआहअमहुअरझंकारणिब्भरे रण्णे ।
गाअइ विरहक्खरॉबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥ २८ ॥
[ मधुमासमारुताहतमधुकरझंकारनिर्भरेऽरण्ये ।
गायति विरहाक्षराबद्धपथिकमनोमोहनं गोपी ॥ ]

वसन्त-वायुसे आहत हो भौंरे अरण्यको झंकारसे परिपूर्ण करते हैं। वहाँ उनके साथ साथ गोपी भी विरहाक्षरयुक्त रद्द्वारा आकृष्ट पथिकोंके मन मुग्धकर गान गा रही हैं ॥ २८ ॥

तह माणो माणधणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुबद्धो ।
जह से अणुणीअ पिओ एक्कग्गाम व्विअ पउत्थो ॥ २९ ॥
[ तथा मानो मानधनया तया एवमेव दूरमनुबद्धः ।
यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥ ]

मानधना उस प्रियाका मान इतनी दूरतक अनुबद्ध हुआ है कि उसका प्रिय उसका अनुनय करनेके उपरान्त एक ही गाँव में प्रवासीकी भाँति होगया है ॥ २९ ॥

सालोएँ व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥
[ सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥ ]

सूर्यका आलोक रहते ही गृहिणी हँसमुख होकर हँसते हँसते अनिच्छुक गृहस्वामीके दोनों चरणोंको धो डाल रही है ॥ ३० ॥

वाहरउ मं सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणह॥ ३१॥
[ व्याहरतु मां सख्यस्तस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन।
स्थिरप्रेमा भवतु यत्र तत्रापि मा किमप्येनं भणत॥ ]

अरी सखियो, उस ( सपत्नी ) के नामद्वारा मुझे पुकारता है तो पुकारने दो, उससे इसरूप पुकारेजानेपर मेरी क्या क्षति? जिसतिसके प्रति वह स्थिरप्रेमा हो—तुमलोग उससे कुछ कहना मत॥ ३१॥

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण॥ ३२॥
[ रूपमक्ष्णोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे।
हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन॥ ]

दैव क्या हमारे नयनद्वयमें स्थित प्रियका रूप, अंगोंमें स्थित उसका संस्पर्श, कानोंमें निहित उसकी बातें एवं हृदयमें निहित उसके हृदय इन सबको मेरी भावनासे वियोजित करनेमें समर्थ होगा?॥

सअणे चिन्तामइअं काऊण पिअं णिमीलिअच्छीए।
अप्पाणो उवऊढो पसिढिलवलआहिँ वाहाहिं॥ ३३॥
[ शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या।
आत्मा उपगूढः प्रशिथिलवलयाभ्यां बाहुभ्याम्॥ ]

नेत्र निमीलितकर शय्याकेऊपर वह कामिनी अपनेप्रियको चिन्तामग्नकर विरह प्रशिथिल वलययुक्त बाहुद्वयद्वारा अपना ही आलिंगन कर रही है॥३३॥

परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि।
चिरजीविएण इमिणा खविअह्मो दड्ढकाएण॥ ३४॥
[ परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये।
चिरजीवितेनानेन क्षपिताः स्मो दग्धकायेन॥ ]

दूसरेका कार्य-साधनेकेलिए सारेदिन एकघरसे दूसरे घर आ जाकर अन्नान्वेषी दग्धकाककी भाँति पराभूत अपनी इस वृद्ध दग्धदेहद्वारा मैं उद्वेजित हो गयी हूँ॥ ३४॥

वसइ जहिं चेअ खलो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं।
तं चेअ आलअं दीअओ व्व अइरेण मइलेइ॥ ३५॥

[ वसति यत्रैव खलः पोष्यमाणः स्नेहदानैः ।
समेवालयं दीपक इवाचिरेण मलिनयति ॥ ]

जिस घरमें स्नेहदानद्वारा खलजन संवर्द्धित होते हैं, स्नेहदानद्वारा पोषित दीपककी भाँति वे उसी घरको शीघ्र ही मलिन बनादेते हैं ॥ ३५ ॥

होन्ती वि णिप्फलच्चिअ धणरिद्धी होइ किविणपुरिसस्स ।
गिह्माअवसंतत्तस्स णिअच्छाहि व्व पहिअस्स ॥ ३६ ॥
[ भवन्त्यपि निष्फलैव धनऋद्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य ।
ग्रीष्मातपसंतप्तस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥ ]

कृपणकी प्रभूत धनवृद्धि होनेपर भी वह ग्रीष्मके आतप से संतप्त पथिककेलिए अपनी छायाकेसमान निष्फल सिद्ध होती है ॥ ३६ ॥

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरं ।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सं ॥ ३७ ॥
[ स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥ ]

हे बायें नेत्र, तुम्हारे स्फुरित होनेसे यदि वह प्रिय आजही आजाय तो मैं अपनी दायें नेत्रको मूँदेरहकर केवल तुमसे बहुतदेरतक उसे देखूँगी ॥३७॥

सुणअपउरम्मि गामे हिण्डन्ती तुह कएण सा बाला ।
पासअसारिव्व घरं घरेण कइआ वि खज्जिहिइ ॥ ३८ ॥
[ शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तव कृतेन सा बाला ।
पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥ ]

कुक्कुरबहुलग्राममें वह बाला तुम्हारेलिए इस घरसे उस घर जाते-आते कभी न कभी पासाकी गोटी अथवा पाशमेंआबद्ध सारिकापक्षीकीभाँति खा डाली जायगी ॥ ३८ ॥

अण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं ।
तं णिरसाणँ दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥ ३९ ॥
[ अन्यमन्यं कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम् ।
तन्नीरसानां दोषः कुसुमानां नैव भ्रमरस्य ॥ ]

वह मधुकर जो अन्यान्य पुष्पोंसे रस चूसनेकी इच्छा करता है, इसमें रसशून्य पुष्पोंका ही दोष है, मधुकरका किसीप्रकार दोष नहीं है ॥ ३९ ॥

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तं।
दारणिहिएहिँ दोहिँ वि मङ्गलकलसेहिँ व थणेहिं ॥ ४० ॥

[ रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पला त्वां सा प्रतीक्षते आयान्तम्।
द्वारनिहिताभ्यां द्वाभ्यामपि मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम् ॥ ]

राजपथकीओर नयनपद्मको विस्तारित रखकरभी वह रमणी अपने कुचद्वयको मङ्गलकलशद्वयकी भाँति द्वारपर निहितकर तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है ॥ ४० ॥

ता रुण्णं जा रुव्वइ ता छीणं जाव छिज्जए अङ्गं।
ता णीससिअँ वराइअ जाव अ सासा पहुप्पन्ति ॥ ४१ ॥

[ तावद्रुदितं यावद्रुद्यते तावत्क्षीणं यावत्क्षीयतेऽङ्गम्।
तावन्निःश्वसितं वराक्या यावत् [च] श्वासाः प्रभवन्ति ॥ ]

जितनीदेर रोया जासकता है उतनीदेर अभागिन रोयी है, जितना क्षीण हुआ जा सकता है उसके अङ्ग उतने क्षीण हुए हैं एवं जितनीदेर साँस तेजीसे चल सकती है उतनीदेर उसने उछ्वास लिया है ॥ ४१ ॥

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणँ कालेण रूढपेम्माणं।
मिहुणाणँ मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥

[ समसौख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रूढप्रेम्णोः।
मिथुनयोर्म्रियते यत्तत्खलु जीवति इतरन्मृतं भवति ॥ ]

सुख एवं दुःखमें समानभावसे परिवर्द्धितहोकर कालान्तरमें दृढप्रेममें आबद्ध दम्पतिमेंसे जो एक मर जाता है, वस्तुतः वही जी जाता है एवं दूसरे व्यक्तियोंद्वारा मृत गिना जाता है ॥ ४२ ॥

हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवो पढममञ्जरिसणाहो।
मा रुवसु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणं ॥ ४३ ॥

[ हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरिसनाथः।
मा रोदीः पुत्रि प्रस्थानकलशमुखसंस्थितो गमनम् ॥ ]

हे पुत्रि, प्रस्थानमङ्गलकलशकेऊपर संस्थित प्रथम मञ्जरीयुक्त नवआम्रपल्लव ही प्रियजनके गमनका हरण अथवा निवारण करेगा, अतः तुम रोना मत ॥ ४३ ॥

जो कहँ वि मह सहीहिँ छिद्दं लहिऊण पेसिओ हिअए।
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥ ४४ ॥

[ यः कथमपि मम सखीभिश्छिद्रं लब्ध्वा प्रवेशितो हृदये ।
स मानश्चोरकामुक इव दृष्टे प्रिये नष्टः ॥ ]

प्रणयकलहरूप छिद्र देखकर सखियोंने मेरे हृदयमें जो मान प्रविष्ट करा दिया है, वह मान प्रियवरको देखते ही चोर कामुककी भाँति भाग गया है ॥ ४४ ॥

सहिआहिँ भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुप्फं त्ति ।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइँ ॥ ४५ ॥

[ सखीभिर्भण्यमाना स्तने लग्नं कुसुम्भपुष्पमिति ।
मुग्धवधूर्हस्यते प्रस्फोटयन्ती नखपदानि ॥ ]

स्तनमें क्या कुसुम्भ कुसुम लगा हुआ है?—सखियों द्वारा ऐसा पूछा जाने पर मुग्धवधूने स्तनपरसे नखचिह्नको हटानेकी चेष्टाकी जिससे सखियाँ हँस पड़ीं ॥ ४५ ॥

उम्मूलेन्ति व हिअअं इमाइँ रे तुह विरज्जमाणस्स ।
अवहीरणवसविसंठुलवलन्तणअणद्धदिट्ठाइं ॥ ४६ ॥

[ उन्मूलयन्तीव हृदयं इमानि रे तव विरज्यमानस्य ।
अवधीरणवशविसंष्ठुलवलन्नयनार्धदृष्टानि ॥ ]

अरे तुम्हारे मेरेप्रति विमुखहोनेपर तुम्हारी उपेक्षावश लक्ष्यविहीन हो परावर्तनशील नयनार्द्धदृष्टि मेरे हृदयको उन्मूलित कर रही है ॥ ४६ ॥

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥ ४७ ॥

[ न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासान्न रुदन्ति चिरं न भवन्ति कृशाः ।
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥ ]

हे बहुवल्लभ, तुम जिसके प्रिय नहीं हो—ऐसा कहकर जो तुम्हारे विरहमें दीर्घनिश्वास नहीं छोड़तीं, बहुतदेरतक रोदन भी नहीं करतीं एवं कृश भी नहीं होतीं—वे ही रमणी धन्य हैं ॥ ४७ ॥

णिद्दालसपरिघुम्मिरतंसवलन्तद्धतारआलोआ ।
कामस्स वि दुव्विसहा दिट्ठिणिआआ ससिमुहीए ॥ ४८ ॥

[ निद्रालसपरिघूर्णनशीलतिर्यग्वलदर्धतारकालोकाः ।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥ ]

चन्द्रवदनाकी पड़ी हुई दृष्टि मदनदेवके धैर्यकोभी तोड़ देती है क्योंकि यह दृष्टि अर्द्धतारकाके आलोकनिद्रामें अलस, परिघूर्णमान एवं मानवेतरभावसे प्रेरित ही दिखायी पड़ती है ॥ ४८ ॥

जीविअसेसाइ मए गमिआ कहँ कहँ वि पेम्मदुद्दोली ।
एहिं विरमसु रे डड्ढहिअअ मा रज्जसु कहिं पि ॥ ४९ ॥
[ जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।
इदानीं विरम रे दग्धहृदय मा रज्यस्व कुत्रापि ॥ ]

रे दग्धहृदय, मैंने किसीप्रकार जीवनमात्रावशेष होकर प्रेमकी दूर्दोली अर्थात् निष्फल प्रेम प्रन्थि निर्वाहित की है, तुम अब विरत हो जाओ एवं अन्य किसीसे अनुराग मत करो ॥ ४९ ॥

अज्जाएँ णवणहक्खअणिरीक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गं ।
पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टं ॥ ५० ॥
[ आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुरुयौवनोत्तुङ्गम् ।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलार्चितं भवति स्तनपृष्ठम् ॥ ]

वररमणीके अत्यन्त गुरु एवं यौवनोत्तुङ्गस्तनपृष्ठ, उसके नूतन नखक्षत दर्शनके समय, उसके प्रतिबिम्बित नयनपद्म द्वारा अर्चित हो रहा है ॥ ५० ॥

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तं ।
दीसइ मअपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ ५१ ॥
[ तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मीमुखं कौस्तुभे संक्रान्तम् ।
दृश्यते मृगपरिहीनं शशिबिम्बं सूर्यबिम्ब इव ॥ ]

उस नारायणको ही प्रणाम करो, जिसके वक्ष स्थितकौस्तुभमणिमें संक्रान्त लक्ष्मीदेवीका मुखड़ा, सूर्यबिम्बमें प्रतिफलित मृगशून्य अर्थात् निष्कलङ्क चन्द्रबिम्बकी नाईं शोभायमान दृष्टिगत होता है ॥ ५१ ॥

मा कुण पडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लं ।
अइगहिअगरुअमाणेण पुत्ति रासि व्व छिज्जिहिसि ॥ ५२ ॥
[ मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनय प्रियं प्रसादलोभयुतम् ।
अतिगृहीतगुरुकमानेन पुत्रि राशिरिव क्षीणा भविष्यसि ॥ ]

हे पुत्रि, शत्रुओंका सुख बढ़ाना मत, अपने प्रसादलोलुपप्रियको अनुनय-साध्य करो, नहीं तो अतिगुरुमानका ग्रहणकर तुम ( तोलनेके लिए माशा आदि ) राशिकी नाईं क्षीण एवं न्यून हो जाओगी ॥ ५२ ॥

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि ।
अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ ॥ ५३ ॥
[ विरहकरपत्रदु:सहपाट्यमाने तस्या हृदये ।
अश्रु कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति ॥ ]

दु:सह विरहरूप करपत्रद्वारा अपाट्यमान उसके हृदयकेऊपर उसका कज्जलमलिन अश्रु प्रमाणसूत्रकी नाईं प्रतिभात हो रहा है ॥ ५३ ॥

दुण्णिक्खेवअमेअं पुत्तअ मा साहसं करिज्जासु ।
एत्थ णिहिताइँ मण्णे हिअआइँ पुणो ण लब्भन्ति ॥ ५४ ॥
[ दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं करिष्यसि ।
अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥ ]

हे पुत्रक, यह हृदय रूप निक्षेप वा अर्पण दुर्निक्षेप कहा जा सकता है, अर्थात् तुम्हारे हृदयके फिर लौट पानेकी संभावना नहीं है, सुतरां तुम साहसपूर्ण कार्य करना मत। जान पड़ता है कि इस नायिकामें निहित मन फिर पाया नहीं जाता ॥ ५४ ॥

णिव्वुत्तरआ वि बहू सुरअविरामट्ठिइं अआणन्ती ।
अविरअहिअआ अण्णं पि किं पि अत्थि त्ति चिन्तेइ ॥ ५५ ॥
[ निर्वृत्तरतापि वधू: सुरतविरामस्थितिमजानंती ।
अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥ ]

अनुभूतरमणा होनेपर भी वधूटी सुरतावसानपर क्या करना चाहिए, यह न जानकर अविरत हृदय लेकर, इसके बाद और कुछ है, ऐसा विचार करती है ॥ ५५ ॥

णन्दन्तु सुरअसुहरसतह्णावहराइँ सअललोअस्स ।
बहुकेअवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाणँ पेम्माइं ॥ ५६ ॥
[ नन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस्य ।
बहुकैतवमार्गविनिर्मितानि वेश्यानां प्रेमाणि ॥ ]

सभीके सुरतसुखरसकी तृष्णाका अपहरणकरनेवाला एवं अनेक प्रकारके कपटमार्गद्वारा रचित वेश्याओंका प्रेम रसिकोंकेलिए अभिनन्दनीय हो ॥ ५६ ॥

अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो ।
पावसि जइ चलचित्तं पिअं जणं ता तुह कहिस्सं ॥ ५७ ॥

[ अप्राप्तमन्युदुःख किं मां कृशेति पृच्छसि हसन्।
प्राप्स्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तदा तव कथयिष्यामि ॥ ]

विसंयोगजन्य दुःख कभी तुम्हें नहीं मिला है, इसीसे हँसकर पूछती हो, 'मैं कृश क्यों हो गयी हूँ।' चंचलचित्त प्रिय जब तुम्हें मिल जायगा तभी तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूँगी ॥ ५७ ॥

अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओसि।
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥
[ अपहस्तयित्वा सखीजल्पितानि येषां कृते न रमितोऽसि।
एतानि तानि सौख्यानि संशयो यैर्जीवस्य ॥ ]

जिन सुखोंकेलिए तुमने सखियोंकी बात न मानकर मेरे साथ रमण कररही है, वे ही ये सारे सुख हैं। किन्तु इन सबकेद्वारा मेरा जीवन संशयापन्न हो जाता है ॥ ५८ ॥

ईसालुओ पई से रत्तिं महुअं ण देइ उच्चेउं।
उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसहाओ ॥ ५९ ॥
[ ईर्ष्याशीलः पतिरस्या रात्रौ मधूकं न ददात्युच्चेतुम्।
उच्चिनोत्यात्मनैव मातरतिऋजुकस्वभावः ॥ ]

ईर्ष्यापरायणपति उसे रात्रिमें मधूकपुष्प नहीं चुनने देता। हे माँ, अत्यन्त सरलस्वभाववाला यह पति अपने आपही मधूकचयन कर रहा है ॥ ५९ ॥

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च।
चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ॥ ६० ॥
[ बलादाकृष्टवस्त्रार्धान्तप्रस्थिते मन्थरं त्वं व्रज।
चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥ ]

अरी, वस्त्रार्द्धान्त आकर्षणपूर्वक प्रयाणशीले, मन्थरगतिसे जा। स्तनभारसे आयासित मध्यका भङ्ग हो सकता है, यह नहीं सोच रही हो क्या ॥ ६० ॥

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं वि तणुएइ ॥ ६१ ॥
[ ऊर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥ ]

ऊपरकी ओर नयन उठाकर हाथकी अङ्गुलियोंको विरलकर पथिक जैसे-

जैसे काल-विलम्बके साथ जलपान कर रहा है, प्याऊपालिका वैसे-वैसे ही क्षीणजलधाराको क्षीणतर कर जल डाल रही है ॥ ६१ ॥

मिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं ।
तं चडुअं अ करङ्कं दोह्न वि काआ विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥
[ भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काकाः विलुम्पन्ति ॥ ]

भिक्षाजीवी नायिकाके नाभिमण्डलकी ओर दृष्टिपात कर रहा है, वह नायिका भी उसके मुखचन्द्रकी ओर देख रही है। इस अवसरपर कौए दोनोंके चटुक एवं करङ्क अर्थात् भिक्षादान पात्र एवं भिक्षाग्रहण पात्रसे अन्नको ले भागते हैं ॥ ६२ ॥

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥ ६३ ॥
[ येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥ ]

जिसे छोड़नेपर जीवनयापन संभव नहीं है, कृतापराध होनेपर भी उसे अनुनीत करना उचित है। बताओ तो, सारे नगरके जलनेपर भी अग्नि किसे प्रिय नहीं है ॥ ६३ ॥

वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुक्खं वा ।
केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे ॥ ६४ ॥
[ वक्रं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुखं वा दुःखं वा ।
केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे ॥ ]

किसकी ओर मैं वक्रभावसे देखूँ, किससे सुखदुःखकी बातें कहूँ एवं इस पामरबहुल दुष्ट ग्राम में किसके साथ परिहास करूँ ? ॥ ६४ ॥

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए ।
असईअ मणोरहगब्भिणीअ हत्था थरहरन्ति ॥ ६५ ॥
[ कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्याहमङ्गलं लाङ्गले कुर्वत्याः ।
असत्या मनोरथगर्भिण्या हस्तौ थरथरायेते ॥ ]

कपासका खेत जुतनेके शुभारम्भदिवसकी मङ्गलक्रिया सम्पादन करनेकेसमय मनोरथधारिणी असतीके हस्तद्वय थरथरा रहे हैं ॥ ६५ ॥

पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ बहलतिमिरस्स।
आइप्पणेण णिहुअं वडस्स सित्ताइँ पत्ताइं॥ ६६॥
[ पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीभिर्बहलतिमिरस्य।
आलेपनेन निभृत वटस्य सिक्तानि पत्राणि ॥ ]

अन्धकार बहुलवटवृक्षके पत्तोंको अन्धकार दूरकरनेकेलिए पथिकगण कहीं छेद न दें, इस आशङ्कासे आकुल असती स्त्रियोंने आलेपनद्वारा उन्हें छिपाकर सिक्त कर रखा है अर्थात् काकविष्टाकी आशङ्कासे पथिकगण मानो पत्तोंका छेदन नहीं करते॥ ६६॥

भञ्जन्तस्स वि तुह सग्गगामिणो णइकरञ्जसाहाओ।
पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहँ धरणिं विअ छिवन्ति॥ ६७॥
[ भञ्जतोऽपि तव स्वर्गगामिनो नदीकरञ्जशाखा।
पादावद्यापि धार्मिक तव कथं धरणीमेव स्पृशतः॥ ]

हे धार्मिक, स्वर्गगमनके अभिलाषी होकर तुम नदीतटस्थित करञ्जवृक्षकी शाखा दन्तधावनार्थ भग्नकररहे हो, किन्तु अभीतक तुम्हारे दोनों पैर पृथ्वीपर ही कैसे रहे हैं॥ ६७॥

अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसणं अइमहग्घं।
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ॥ ६८॥
[ अस्तु ताव-मनोहर प्रियाया मुखदर्शनमतिमहार्घम्।
तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि झटिति दृष्टा सुखयति॥ ]

प्रेयसी के अति मूल्यवान मनोहर मुख दर्शनकी बात तो दूर रहे, उसके ग्रामकी क्षेत्रसीमा भी यदि कहीं अचानक दिख जाय तो वह भी मनमें सुख उत्पन्न करती है॥ ६८॥

णिक्कम्माहिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वच्चए वसइं।
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुक्खं परिहरन्तो॥ ६९॥
[ निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात्पामरो नैव व्रजति वसतिम्।
मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन्॥ ]

प्यारी जायाके मर जानेपर शून्य गृहके दुःखको दूरकरनेकेलिए पामर कार्यशून्यक्षेत्रसे भी अपने घर नहीं जा रहा है॥ ६९॥

झञ्झावाउत्तिणिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं।
कुड्डलिहिओहिदिअहं रक्खइ अज्जा करअलेहिं॥ ७०॥

[ झञ्झावातोत्तृणीकृतगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः ।
कुड्यलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या कराग्रैः ॥ ]

झञ्झावातमें तृणके उड़जानेपर गृहविवरद्वारपर्यन्त जल बह रहा है, साध्वी आर्या भित्तिलिखित स्वामीके प्रवासकाल अवधिसूचक दिनसंख्याको दोनों हाथोंद्वारा रक्षा कर रही है ॥ ७० ॥

गोलाणइए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं ।
उप्फडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥ ७१ ॥

[ गोदावरी नद्याः कच्छे चर्वयन्राजिकायाः पत्राणि ।
उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥ ]

गोदावरीके किनारे राजिकाका पत्र चर्वणकर बन्दर उछल रहे हैं, खोक् शब्द कर रहे हैं एवं अपने पेट पीट रहे हैं [ सङ्केत स्थानमें भयकी आशङ्का है ] ॥ ७१ ॥

गहवइणा मुअसैरिहडुण्डुअदामं चिरं वहेऊण ।
वग्गसआइं णेऊण णवरिअ अज्जाघरे बद्धं ॥ ७२ ॥

[ गृहपतिना मृतसैरिभबृहद्घण्टादाम चिरमूढ्वा ।
वर्गशतानि नीत्वानन्तरमार्यागृहे बद्धम् ॥ ]

गृहपतिने मृत महिषके बृहत् घण्टाकी मालाको अनेकदिन तक सुरक्षित रखकर शतशतपशुओंको खरीदकर भी, पूर्व सदृश महिष न पाकर उस मालाको आर्याके आयतनमें बाँध रखा। [ सुभगा पूर्वपत्नीके आभूषणादिको अन्य प्रेयसीको देना उचित नहीं ] ॥ ७२ ॥

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणं ॥ ७३ ॥

[ शिखिपिच्छावतंसा वधूर्व्याधस्य गर्विता भ्रमति ।
गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ ]

मयूरपुच्छद्वारा विभूषित होकर भी व्याधवधू गर्वके साथ गजमुक्तासे निर्मित आभूषणोंको धारणकर सपत्नियोंके बीच भ्रमण कर रही है ॥ ७३ ॥

वङ्कच्छिपेच्छिरीणं वङ्कुल्लाविरीणँ वङ्कभमिरीणं ।
वङ्कहसिरीणँ पुत्तअ पुण्णेहिँ जणो पिओ होइ ॥ ७४ ॥

- [ वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोल्लपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम् ।
वक्रहासशीलानां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥ ]

हे पुत्रक, जो रमणी तिरछेकटाक्षसे देखनेवाली, वक्रवचनसे उद्दीपनशीला, वक्रगतिसे भ्रमणशीला एवं वक्रहँसी से हँसनशीलाका प्रिय होनेकेलिए लोगोंके पुण्यका बल होना आवश्यक है ॥ ७४ ॥

*भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।*
*गोलाअडविअडकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ७५ ॥*

[ भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदातटविकटकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ ]

हे धार्मिक, तुम प्रशान्तभावसे अन्यत्र भ्रमण करो, गोदावरीके तीरवर्ती विकटकुञ्जमें वास करनेवाले उस दृप्त सिंहद्वारा वह कुत्ता आज ही मारा गया है ॥ ७५ ॥

वापरिएण भरिअं अच्छिं कणऊरउप्पलरएण ।
फुक्कन्तो अविइहं चुम्बन्तो को सि देवाणं ॥ ७६ ॥

[ वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा ।
फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोऽसि देवानाम् ॥ ]

वायुद्वारा उत्क्षिप्तकर्णपूररूपमें व्यवहृतपद्मरागसे पूर्णनयनमें फूत्कार करने जाकर अतृप्तअभिलाषसे चुम्बन करनेवाले तुम देवोंमेंसे कोई देव हो ॥ ७६ ॥

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥

[ सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि ।
नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः काम ॥ ]

अरी सखी, कदम्बके फूल हमें जितना मन कष्ट देते हैं, अन्य फूल उतना नहीं देते । वर्षाके दिनोंमें कामदेव निश्चय ही कदम्बकुसुमरूप गुटिका वा निक्षेपकारीधनुष व्यवहारमें ला रहे हैं ॥ ७७ ॥

*णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो ।*
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो ॥ ७८ ॥

[ नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽस्माकमत्र व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥ ]

मैं स्वयं दूती नहीं हूँ, तुम भी उसके प्रिय नहीं हो, सुतरां इसविषयमें हमलोगोंको कुछ नहीं करना है । तब वह मारी जायगी और तुम्हारे अपयशकी

चर्चा भी चलेगी, इसीसे मैंने स्त्रीवधनिवारणके निमित्त यह धर्मवार्ता चलायी ॥ ७८ ॥

तीअ मुहाहि तुह मुहँ तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि ।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥ ७९ ॥
[ तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।
हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥ ]

अत्यन्त दुष्कर कार्यकरनेवाली उस नायिकाका तिलक आलिङ्गन करते समय उसके मुखसे तुम्हारे मुखमें एवं प्रणतिके समय तुम्हारे मुखसे मेरे चरणोंमें प्रतियोगिताभावसे हस्तान्तरित हो संलग्न हुआ है ॥ ७९ ॥

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ॥ ८० ॥
[ श्यामायाः श्यामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा ।
जम्बूदलकृतकर्णावतंसभ्रमणशीले हलिकपुत्रे ॥ ]

जम्बूकिसलयको कर्णावतंसरूपमें व्यवहृतकरनेवाले हालिकपुत्रको देखकर अधखुले नयनोंसे देखनेवाली श्यामाकी मुखशोभा साँवली हो गई ॥ ८० ॥

दूइ तुमं विअ कुसला कक्खडमउआइँ जाणसे वोल्लुं ।
कण्डुइअपण्डुरं जह ण होई तह तं करेज्जासु ॥ ८१ ॥
[ दूति त्वमेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि वक्तुम् ।
कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा त्वं करिष्यसि ॥ ]

हे दूती, तुम्हीं बड़ी कुशला हो, एवं तुम्हीं जानती हो कि किसप्रकार कर्कश एवं मृदुवचन बोलाजाता है, किन्तु देखो, उसे बात तो लगे पर वह पीला न पड़ जाय ॥ ८१ ॥

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ ८२ ॥
[ महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।
दिवसमनन्यकर्मा अङ्ग तनुकमपि तनूकरोति ॥ ]

हे सुभग, सहस्रों महिलाओंद्वारा भरे हुए तुम्हारे हृदयमें स्थान न पाकर वह अन्य दैनिक कार्योंको छोड़कर अपने कृश अङ्गोंको कृशतर कर रही है ॥८२॥

रणमेत्तं पि ण फिट्टइ अणुदिअहविइण्णगरुअसंतावा ।
पच्छण्णपावसङ्क व्व सामली मज्झ हिअआओ ॥ ८३ ॥

[ क्षणमात्रमपि नापयात्यनुदिवसविसीर्णगुरुकसंतापा ।
प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला मम हृदयात् ॥ ]

प्रच्छन्न पापकी आशङ्काकी भाँति प्रतिदिन गुरु सन्ताप उत्पादन करके भी वह श्यामा मेरे हृदयसे पृथक् या अपसृत नहीं होती ॥ ८३ ॥

अज्ज अ णाहं कुविआ अवऊहसु किं मुहा पसाएसि ।
तुह मण्णुसमुप्पाअएँण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ ८४ ॥

[ अज्ञ नाहं कुपिता उपगूह किं मुधा प्रसादयसि ।
तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् ॥ ]

अरे अज्ञ, मैं तुमपर कुपित नहीं हुई हूँ, मेरा आलिङ्गन करो, मुझे वृथा ही क्यों प्रसन्न करना चाहते हो। मेरी ओरसे तुम्हारे ऊपर कोप करनेवाले मनका अवलम्बन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ८४ ॥

दीहुण्हपउरणीसासपआविओ* बाहसलिलपरिसित्तो ।
साहेइ सामसवलं व तीएँ अहरो तुह विओए ॥ ८५ ॥

[ दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासप्रतप्तो बाष्पसलिलपरिसिक्तः ।
साधयति श्यामशबलमिव तस्या अधरस्तव वियोगे ॥ ]

तुम्हारे विरहमें उसका अधर दीर्घ, उष्ण तथा प्रचुरनिःश्वाससे तप्त एवं वाष्पजलसे परिसिक्त होकर मानो 'श्यामशबल' नामक व्रतविशेषका आचरण कर रहा है [ इस व्रतमें पहले अग्नि और बादमें जलके भीतर प्रवेश करने की विधि है ] ॥ ८५ ॥

सरए महद्दहाणं अन्तो सिसिराइँ बाहिरुण्हाइं ।
जाआइँ कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइँ सलिलाइं ॥ ८६ ॥

[ शरदि महाह्रदानामन्तः शिशिराणि बहिरुष्णानि ।
जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृशानि सलिलानि ॥ ]

शरत्कालमें महाह्रदसमूहोंकी जलराशि कुपित सज्जनहृदयके समान भीतर शीतल, किन्तु बाहर गर्म रहती है ॥ ८६ ॥

आअस्स किं णु करिहिम्मि किं बोलिस्सं कहं णु होइहिइमिति ।
पढमुग्गअसाहसआरिआइ हिअअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥

[ आगतस्य किं नु करिष्यामि किं वदिष्यामि कथं नुम विष्यति [इदम्] इति ।
प्रथमोद्गतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥ ]

नायकके आ जानेपर मैं क्या करूँगी, उसे क्या कहूँगी एवं कैसे अभिसार होगा? ऐसा सोचकर प्रथमोद्गतसाहस अवलम्बनकरनेवालीका हृदय थरथर काँपता है ॥ ८७ ॥

णेउरकोडिविलग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती व्विअ कहेइ ॥ ८८ ॥
[ नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥ ]

नूपुरके अग्रभागमें संलग्न पादपतितप्रियजनके केशका उन्मोचनकरके ही, वह नायिका अपने हृदयके मानयुक्त होनेकी सूचना दे रही है ॥ ८८ ॥

तुज्झङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा ।
सा किर गोलाऊले ह्लाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥
[ तवाङ्गरागशेषेण श्यामला तथा खरेण सुकुमारा ।
सा किल गोदाकूले स्नाता जम्बूकषायेण ॥ ]

सुकुमाराङ्गी वह श्यामा तुम्हारे अङ्गरागशेष तीक्ष्ण जम्बुकषायद्वारा गोदावरीनदीके किनारे नहला दी गयी है ॥ ८९ ॥

अज्ज व्वेअ पउत्थो अज्ज व्विअ सुण्ण आइँ जाआइँ ।
रत्थामुहदेउलचत्तराइँ अह्मं च हिअआइं ॥ ९० ॥
[ अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यकानि जातानि ।
रथ्यामुखदेवकुलचत्वराण्यस्माकं च हृदयानि ॥ ]

आज ही वह नायक प्रवासार्थ चला गया है और आज ही गाँवका मार्गमुख, देवकुल तथा प्राङ्गणसमूह एवं साथ-साथ हमलोगोंका हृदयसमूह शून्य हो गया है ॥ ९० ॥

चिरइंडि पि अआणन्तो लोआ लोएहिँ गोरवब्भहिआ ।
सोणारतुले व्व णिरक्खरा वि खन्धेहिँ उब्भन्ति ॥ ९१ ॥
[ वर्णावलीमप्यजानन्तो लोका लोकैर्गौरवाभ्यधिकाः ।
सुवर्णकारतुला इव निरक्षरा अपि स्कन्धैरुह्यन्ते ॥ ]

अनेक व्यक्ति वर्णमालाके ज्ञानरहित अनेक व्यक्तियोंको गौरवमें अधिक समझकर, स्वर्णकारकी निरक्षरतुलाकी भाँति, कन्धेपर झुलाकर ढोते हैं ॥ ९१ ॥

आअम्बरत्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरिं फुरन्तोट्ठिं ।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्तिं पिअं भरिमो ॥ ९२ ॥

[ आताम्रान्तः कपोलां स्खलिताक्षरजल्पनशीलां स्फुरदोष्ठीम् ।
मा स्पृशेति सरोषं समपसर्पन्तीं प्रियां स्मरामः ॥ ]

ईषत् ताम्रायमान कपोलविशिष्टा, स्खलिताक्षरमें जल्पनकारिणी, स्फुरिताधरा एवं 'मुझे छूना मत' कहकर रोषसहित अलग हटनेवाली अपनीप्रियाका मैं स्मरण करता हूँ ॥ ९२ ॥

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को ।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा गाढमुवऊढा ॥ ९३ ॥
[ गोदावरी विषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः ।
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥ ]

गोदावरीका अवतरणस्थान विषम है, इसी बहाने नायिकाने अपने शरीरको नायकके वक्षःस्थलपर छोड़ दिया एवं उसने भी अनुकम्पासे निर्दोष समझकर उसे प्रेमसे आलिङ्गित किया ॥ ९३ ॥

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥
[ सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि ।
उद्वसितनगरगृहदेवतेव अवमालिकां वहति ॥ ]

हे सुभग, सम्प्रति गन्धरहित होनेपरभी, तुम्हारे हाथद्वारा पायी हुई मालाको वह परित्यक्त नगरगृहदेवताकी नाईं, आज भी ढो रही है ॥ ९४ ॥

केलीअ वि रूसेउं ण तीरए तम्मि चुक्कविणअम्मि ।
जाइअएहिँ व माए इमेहिँ अवसेहिँ अङ्गेहिं ॥ ९५ ॥
[ केलयापि रुषितुं न शक्यते तस्मिंश्च्युतविनये ।
याचितकैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥ ]

अरी माता, उसके विनयच्युतहोनेपरभी, दूसरेद्वारा नीलाममें लायी हुई वस्तुकी भाँति मेरे अवश अङ्गोंको केलिकेबहानेभी क्रुद्ध नहीं किया जा सकेगा ॥ ९५ ॥

उप्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा ।
मा जहणभारगरुई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥
[ उत्फुल्लिकया खेलतु मैनां वारय भवतु परिणामा ।
मा जघनभारगुर्वी पुरुषायितं कुर्वती क्लमिष्यति ॥ ]

यह बालिका उप्पुल्लिका नामक क्रीडाकर खेले, इसे रोकना मत, इसे कुछ क्षीण होने दो, जिससे जघनभारकीगुरुता छोड़कर विपरीतविहार करते समय क्लान्ति अनुभव न करे ॥ ९६ ॥

पउरजुआणो गामो महुमासो जोव्वणं पई ठेरो ।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥

[ प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।
जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं म्रियताम् ॥ ]

गाँवमें अनेक युवक रहते हैं, मास भी मधुमास है, नायिकाका यौवन पूर्ण है, किन्तु उसका पति स्थविर है, सुराभी पुरानी है, जिसको इतनी स्वाधीनता है, वह युवती असती नहीं होगी तो क्या मरेगी ? ॥ ९७ ॥

बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्झ हत्थसंदिट्ठं ।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुणरुत्तसअं कुणइ अज्जा ॥ ९८ ॥

[ बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम् ।
न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्तशतं करोत्यार्या ॥ ]

मेरेद्वारा प्रेरित तुम्हारी बात अनेक बार अनेक प्रकारसे उससे कहे जानेपर भी, 'यह नहीं सुना गया' ऐसा कहकर यह आर्या ही सैकड़ोंबार पुनरुक्ति कराती है ॥ ९८ ॥

पाअडिअणेहसब्भावणिब्भरं तीअ जह तुमं दिट्ठो ।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह व्वेअ ॥ ९९ ॥

[ प्रकटितस्नेहसद्भावनिर्भरं तया यथा त्वं दृष्टः ।
संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथैव ॥ ]

स्नेहप्रकटन एवं पूर्णसद्भावसे नायिका जिसप्रकार तुम्हें भी देखरही है, प्रेमको छिपानेकेलिए व्यग्र हो, वह अन्यलोगोंको भी इसीप्रकार देखती है ॥९९॥

गेह्णह पलोअह इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ ।
जाआ सुअपढमुब्भिण्णदन्तजुअलङ्किअं बोरं ॥ १०० ॥

[ गृहीत प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति ।
जाया सुतप्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥ ]

'इसे ग्रहण करो एवं देखो'—ऐसा कहकर जायाने पुत्रके प्रथमोद्‌गत युगदन्तद्वाराचिह्नित बेरफलको हँसते हुए पतिको समर्पित किया ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं वीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

कविवत्सल प्रमुख सुकविरचित रसिकजनोंके हृदयहार सप्तशतीमें यह द्वितीय गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

# तृतीय शतक

अच्छउ ता जणवाओ हिअअं विअ अत्तणो तुह पमाणं।
नह तं सि मन्दणेहो जह ण उवालम्भजोग्गो सि ॥ १ ॥
[ अस्तु तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्तव प्रमाणम्।
तथा त्वमसि मन्दस्नेहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥ ]

लोग मन्दस्नेह कहकर तुम्हारी निन्दा करते हैं, वह बात तो जाने दो, उस विषयमें तो तुम्हारा हृदय ही प्रमाण है। तुम इतने मन्दस्नेह हो गए हो कि तुम तिरस्कारके पात्र भी नहीं रह गए हो ॥ १ ॥

अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहलम्भं जणं वि मग्गन्त।
आआसपहेहिँ भमन्त हिअअ कइआ वि भज्जिहिसि ॥ २ ॥
[ आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण।
आकाशपथैर्भ्रमद्हृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥ ]

रे हृदय, तुम स्वेच्छासे प्रियजनकी प्राप्तिकी आशामें दौड़ रहे हो, जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसके अन्वेषणमें तत्पर हुए हो, तुम आकाशमार्गमें विचरणशील हो गए हो। संभवतः ऐसा करनेसे तुम किसी समय टूटकर गिर पड़ोगे ॥ २ ॥

अहव गुणव्विअ लहुआ अहवा गुणअणुओ ण सो लोओ।
अहव ह्मि णिग्गुणा या बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥
[ अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्जनस्तस्य ॥ ]

संभवतः मेरे गुण ही लघु या अनादरणीय है, या वह व्यक्ति ही गुणज्ञ नहीं है, अथवा मैं ही गुणशून्य हूँ, अथवा उसका प्रिय व्यक्ति ही अनेक गुणोंसे सम्पन्न होगा ॥ ३ ॥

फुट्टन्तेण व्वि हिअएण मामि कह णिव्वरिज्जए तम्मि।
आदंसे पडिबिम्बं व्वि जम्मि दुःखं ण संकमइ ॥ ४ ॥
[ स्फुटितापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन्।
आदर्शे प्रतिबिम्बमिव यस्मिन्दुःखं न संक्रामति ॥ ]

हे मामी, दुःखसे विदीर्यमान हृदय लेकर भी किस प्रकार उससे मनोव्यथा व्यक्त करूँगी ? दर्पण में प्रतिबिम्बकी नाईं उसी व्यक्तिमें मेरा अनुभूत दुःख संक्रान्त हो जायगा न ॥ ४ ॥

पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।
ओअन्तकरअलोगलिअवलअमज्झट्ठिअं पिण्डं ॥ ५ ॥
[ पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।
अवनतकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥ ]

विरहक्लिष्टा पथिकवनिताद्वारा प्रदत्त पिण्डको अपने लटकेहुए करतलसे विगलित वलयके मध्यस्थित देखकर, पाशशङ्कासे उद्विग्न काक उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता ॥ ५ ॥

ओहिदिअहागमासंकिरीहिं सहिआहिं कुड्डलिहिआओ ।
दोतिण्णि तहिं विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥
[ अवधिदिवसागमाशङ्किनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः ।
द्वित्रास्तत्रैव चोरिकयारेखाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥ ]

प्रियतमके प्रत्यागमनकी अवधिदिवसको निकटवर्ती समझकर सखियोंने दिवसगणनाकी अङ्कित रेखाओंमेंसे दोतीनको अलक्षित भावसेही पोंछ रखा है ॥ ६ ॥

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा ।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥ ७ ॥
[ तवमुखसादृश्य न लभत इति संपूर्ण मण्डलो विधिना ।
अन्यमयमिव घटयितु पुनरपि खण्ड्यते मृगाङ्क ॥ ]

'आजतक चन्द्रमा तुम्हारे मुखड़े का सादृश्य प्राप्त न कर सका', इसी कारण विधाता सम्पूर्ण मण्डल चन्द्रकोभी अन्य प्रकारसे निर्मितकरनेकेलिए उसे खण्डित कर डालता है ॥ ७ ॥

अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति गणरीए ।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ ८ ॥
[ अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया ।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥ ]
'प्रियतम आज ही गया है, आज ही गया है, आज ही गया है', इस

प्रकार गणनाकर प्रथम दिनार्द्धमें ही मेरी सखीने गृहभित्तिको रेखाङ्कन द्वारा चित्रित किया है ॥ ८ ॥

ण वि तह पढमसमागमसुरअसुहेपाविएवि परिओसो ।
जह बीअदिअहसविलक्खलक्खिए वअणकमलम्मि ॥ ९ ॥
[ नापि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्राप्तेऽपि परितोषः ।
यथा द्वितीय दिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥ ]

प्रथम समागममें सुरतसुखसे भी उस प्रकारका सुख नहीं मिला, जिस प्रकारका सन्तोष दूसरे दिन उसके सलज्ज अवलोकनसे भूषित वदनकमलको देखकर मिला था ॥ ९ ॥

जे सँमुहागअवोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा ।
अम्हं ते मअणसरा जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥
[ ये सम्मुखागतव्यतिक्रांतवलितप्रियप्रेषिताक्षिविक्षोभाः ।
अस्माकं ते मदनशरा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥ ]

अन्य लोगोंके निकट जैसा हो होवे, हमारे निकट किन्तु प्रथमतः अनुनयार्थ सम्मुखागत होकर तत्पश्चात् व्यतिक्रान्त होनेके समय विचलित होकर प्रियतम जब विक्षोभित दृष्टि डालते हैं, तब वे मदनशर जैसे प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

इअरो जणो ण पावइ तुह जहणारुहणसंगमसुहेल्लिं ।
अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवरुणाणँ माहप्पं ॥ ११ ॥
[ इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगमसुखकेलिम् ।
अनुभवति कनकदोरो हुतवहवरुणयोर्माहात्म्यम् ॥ ]

तुम्हारे जघनपर आरोहणरूप सङ्गमसुखकेलि अन्य कोई अनुभव नहीं कर पाता । केवल कनकसूत्रही अग्नि एवं वरुणके माहात्म्यका अनुभव कर सकते हैं ॥ ११ ॥

जो जस्स विहवसारो तं सो देइ त्ति किं त्थ अच्छेरं ।
अणहोन्तं पि खु दिण्णं दोहग्गं तइ सवत्तीणं ॥ १२ ॥
[ यो यस्य विभवसारस्तं स ददातीति किमत्राश्चर्यम् ।
अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं त्वया सपत्नीनाम् ॥ ]

जिसका जो वैभव है वह उसे ही दे सकता है, इसमें क्या आश्चर्य ? किन्तु तुम्हारे पास जो नहीं है, ऐसा प्रियप्रणयमें वञ्चितता तुम सपत्नियोंको दे सके हो, यही आश्चर्यका विषय है ॥ १२ ॥

चन्दसरिसं मुहं से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा।
सकअग्गहरहसुज्जलचुम्बणअं कस्स सरिसं से ॥ १३ ॥

[ चन्द्रसदृशं मुखं तस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तस्याः ॥ ]

उसका मुख चन्द्रसदृश है, उसका अधररस अमृतके समान है, किन्तु उसके केशग्रहणके साथ वेगोज्ज्वल चुम्बन किस वस्तु के तुल्य है? यह कहते नहीं बनता ॥ १३ ॥

उप्पण्णत्थे कज्जे अइचिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि।
चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणइ कज्जं ॥ १४ ॥

[ उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्गुणागुणौ तस्मिन्।
चिरकालमन्दप्रेक्षित्वेन पुरुषो हन्ति कार्यम् ॥ ]

उस फलाभिमुख कार्यसे गुणदोषका अत्यधिक विचार करने जाकर, बहुतदेरतक केवल मन्द दिशाके प्रेक्षणद्वारा पुरुष कार्यको नष्ट कर देता है ॥ १४ ॥

बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ १५ ॥

[ बालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम्।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि ॥ ]

अरे बालक, मेरेलिए मेरा अपना जीवन तुम्हारे जीवन से भी प्रिय है, वह जीवन तुम्हारे बिना नहीं रहना चाहता; इस कारणसे कुपित तुम्हें प्रसन्न करनेकेलिए उद्यत हुई हूँ ॥ १५ ॥

पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईए।
पुट्ठीअ बाहविन्दू पुलउब्भेएण भिज्जन्ता ॥ १६ ॥

[ प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलायाः।
पृष्ठस्य बाष्पबिन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः ॥ ]

खलका वचन छोड़कर मेरा विश्वास करो, यदि पीठके बल गिरे हुए रोदनशील तुम्हारे अश्रुबिन्दु मेरे पुलकोद्गम द्वारा भिन्न न हो जायँ तो तुम मेरे अनुरागमें विश्वास मत करना ॥ १६ ॥

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि।
आलिहिअभित्तिवाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥

[ तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु ।
आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥ ]

जो मित्र उपयुक्त देश एवं कालमें व्यसन उपस्थित होनेपर भित्तिपर आलिखित पुत्तलिकाके समान पराङ्मुख हो खड़ा नहीं होता, ऐसा ही मित्र बनाने योग्य है ॥ १७ ॥

बहुआइ णइणिउञ्जे पढमुग्गअसीलखण्डणविलक्खं ।
उड्डेइ विहंगउलं हाहा पक्खेहिँ व भणन्तं ॥ १८ ॥
[ वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।
उड्डीयते विहंगकुलं हा हा पक्षैरिव भणत् ॥ ]

निभृत नदीतटस्थित निकुञ्जमें वधूके प्रथम संघटित शीलभङ्गसे लज्जित हो पंखा संचालनद्वारा ही जैसे 'हा हा' करते-करते पक्षी उड़ गए ॥ १८ ॥

सच्चं भणामि बालअ णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स ।
गन्धेण कुरवआणं मणं पि असइत्तणं ण गआ ॥ १९ ॥
[ सत्यं भणामि बालक नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।
गन्धेनकुरवकाणामनागप्यसतीत्वं न गता ॥ ]

अरे बालक, सच ही कह रहा हूँ कि वसन्त मासकेलिए अकरणीय कार्य कोई भी नहीं है, तथापि कुरवककुसुमके गन्धसे यह रमणी ईषत् असतीत्वको भी प्राप्त नहीं हुई ॥ १९ ॥

एक्केक्कमवइवेढणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।
तइ वोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए ॥ २० ॥
[ एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पञ्जरशकुनायितं तया ॥ ]

हे बालक, तुम चले गए, एक-एक करके वृतिवेष्टनके समस्त विवरान्तरमें तरल नेत्र प्रसारकर तुम्हें देखनेकेलिए यह रमणी पिंजरेमें स्थित पक्षिणी जैसा आचरण कर रही थी ॥ २० ॥

ता किं करेउ जइ तं सि तीअ वइवेढपेल्लिअथणीए ।
पाअङ्गुट्ठुक्खित्तणीसहङ्गीअ वि ण दिट्ठो ॥ २१ ॥
[ सा किं करोतु यदि त्वमसि तया वृतिवेष्टनप्रेरितस्तनया ।
पादाङ्गुष्ठार्पितनि:सहाङ्ग्यापि न दृष्टः ॥ ]

चुतिवेष्ठनके ऊपर दोनों स्तनोंको स्थापितकर, पैरके आधे अँगूठेसे निःसह अङ्गरचनापूर्वक खड़ी होनेपर भी, यदि वह रमणी तुम्हें न देखे तो, वह और क्या कर सकती है ? ॥ २१ ॥

पिअसंभरणपलोट्टन्तवाहधाराणिवाअभीआए ।
दिज्जइ वङ्कग्गीवाएँ दीवओ पहिअजाआए ॥ २२ ॥
[ प्रियसंस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया ।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिक जायया ॥ ]

प्रियजनका स्मरण आनेपर नयनमें ढुलके बाष्पधाराके दीपकपर गिरनेके अमङ्गल भयसे भीत हो, पथिकजाया ग्रीवाको टेढ़ाकर सान्ध्यदीप जला रही है ॥

तइ वोलन्ते बालअ तिस्सा अङ्गाइँ तह णु वलिआइं ।
जह पुट्ठिमज्झणिवतन्तवाहधाराओं दीसन्ति ॥ २३ ॥
[ त्वयि व्यतिक्रामति बालक तस्या अङ्गानि तथा नु वलितानि ।
यथा पृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा दृश्यन्ते ॥ ]

हे बालक, तुम्हारे चले जानेके समय, तुम्हें देखनेकेलिए उसने अपने अङ्गोंको इस प्रकार विचलित एवं परिवृत्त किया था कि ऐसा लगा उसकी बाष्पधारा उसकी पीठके ऊपर ही गिरी ॥ २३ ॥

ता मज्झिमो च्चिअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ विण कज्जं ।
जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥
[ तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यामपि न कार्यम् ।
यथा दृष्टस्तापयति खलस्तथैव सुजनोऽदृश्यमानः ॥ ]

दुर्जन एवं सज्जन इन दोनोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मध्यम या साधारण व्यक्ति ही हमारे लिए श्रेष्ठ हैं कारण, खल या दुर्जन दिखायी पड़ते ही जैसा संताप उत्पन्न करते है, वैसा ही सज्जन भी अदृश्य होते ही करते हैं ॥ २४ ॥

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।
सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ २५ ॥
[ अर्धाक्षिप्रेक्षितं मा कुरु स्वाभाविकं प्रलोकय ।
सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि मुग्धा कलिष्यसे ॥ ]

कटाक्षद्वारा मत देखना, स्वाभाविक दृष्टिसे ताकना, इससे वह भी अच्छी प्रकार दिखायी पड़ेगा एवं लोग तुम्हें भी कटाक्षमें असमर्थ 'मुग्धा' गिनेंगे ॥२५॥

दिअहं खुडकिकआए तीए काऊण गेहवावारं।
गरुए वि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥ २६ ॥
[ दिवसं रोषमूकायास्तस्याः कृत्वा गेहव्यापारम्।
गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्तसुप्तस्य ॥ ]

सारे दिन घरके काम-काजमें लगे रहकर रोषसे मौनवा मेरी प्रिय कामिनीका चित्तक्लेश अत्यन्त भारी होनेपर भी, अपने पादान्तमें उसके शयनकी बात स्मरण करता हूँ ॥ २६ ॥

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥
[ पानकुट्यामपि ज्वलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि।
न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥ ]

मद्यपानकुटीमें प्रज्वलित होकर भी अग्नि यज्ञ वेदीमें भी प्रज्वलित होती है। विषम अवस्थामें संस्थित वैसे पुरुषोंका भी कभी त्याग नहीं करना चाहिए॥२७॥

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अह्मे वि।
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥
[ यत्तव सती जाया असत्यो यच्च सुभग वयमपि।
तत्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥ ]

हे सुभग, तुम्हारी जाया तो सती है और मेरी असती, इसका मूल कारण क्या प्रकट होता है? तुम्हारे समान युवक कोई नहीं है, क्या यही कारण नहीं है? ॥ २८ ॥

सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ ॥ २९ ॥
[ सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव।
यत्तेन ग्रामदाहे हस्ताहस्तिकया कुटो गृहीतः ॥ ]

गाँवके जलने में सबकुछ जल जानेपर भी मेरे हृदयमें अत्यन्त सुख अनुभूत हो रहा था, कारण, उसने मेरे हाथसे अपने हाथ में घड़ा ग्रहण किया था ॥ २९ ॥

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्जो वि हु णीसाहो झडिअपत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताई रसिओ दरिद्दो अ ॥ ३० ॥

[ शाखायां वनोद्देशे कुब्जोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥ ]

वनभूमिमें शाखाशून्य एवं गलितपत्र कुब्जवृक्ष यदि उत्पन्न होता है तो हो, किन्तु मानवलोकोंमें त्यागशील एवं रसिकजन कहीं दरिद्र न हों ॥ ३० ॥

तस्स अ सोहग्गगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्झ ।
जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[ तस्य च सौभाग्यगुणमहिलासदृशं च साहसं मम ।
जानाति गोदापूरो वर्षारात्रार्धरात्रश्च ॥ ]

गोदावरीका प्रचण्ड जलप्रवाह एवं वर्षाकालकी समग्र रात्रि भी आधी रातमें उसके सौभाग्यकी बात एवं मेरे अमहिला सदृश साहसकी बात जानते हैं ॥ ३१ ॥

ते वोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा ।
अह्मे वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मं ॥ ३२ ॥

[ ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थाणवः शेषाः ।
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेदं गतं प्रेम ॥ ]

वे सारे वयस्क चले गए हैं, उन कुञ्जोंमें ठूंठवृक्षसमूह ही शेष रह गया है। मुझ विगतवयस्काके भी प्रेमका मूलोच्छेद हो गया है ॥ ३२ ॥

थणजहणणिअम्बोवीर णहरङ्का गअवआणँ वणिआणं ।
उव्वसिआणङ्गणिवासमूलबन्ध व्व दीसन्ति ॥ ३३ ॥

[ स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्का गतवयसां वनितानाम् ।
उद्वसितानङ्गनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥ ]

गतवयस्का वनिताओंके स्तन, जघन एवं नितम्बप्रदेशके ऊपर नायकका नखचिह्नसमूह मानो शून्यीकृत मदननिवासके मूलबन्धनके चिह्नस्वरूप विराजते हैं ॥ ३३ ॥

जस्स जहिं चिअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी ।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥ ३४ ॥

[ यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥ ]

उस नायिकाके जिस अङ्गपर जिसकी दृष्टि प्रथमतः पड़गयी है, उसी अङ्गमें

उसकी दृष्टि गड़गयी है, इसी कारण, कोई उसके सारे अङ्गोंको नहीं देख सका है ॥ ३४ ॥

विरहे विसं व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअं ।
किं विहिणा समअं विअ दोहिं वि पिआ विणिम्मिअआ ॥ ३५ ॥
[ विरहे विषमिव विषमामृतमयी भवति संगमेऽधिकम् ।
किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विनिर्मिता ॥ ]

प्रिया विरहावस्थामें विषके समान विषमा एवं सङ्गममें अत्यधिक अमृतमयी समझ पड़ती है, तब क्या विधाताने इनदोनों वस्तुओंद्वारा समान भावसे ही उसका निर्माण किया है ॥ ३५ ॥

अद्दंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुबन्धघडिआइं ।
हत्थउडपाणिआइं व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥ ३६ ॥
[ अदर्शनेन पुत्रक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि ।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥ ]

हे पुत्रक, हस्ताञ्जलिस्थित जल जिसप्रकार समय पाकर गलित हो जाता है, उसीप्रकार स्नेहानुबन्धनमें सुष्ठु संघटित प्रेम भी बहुत दिनतक न दिखायी पड़नेके फलस्वरूप विलुप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

पइपुरओ व्विअ णिज्जइ विच्छुअदट्ठेत्ति जारवेज्जहरं ।
णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥
[ पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदष्टेति जारवैद्यगृहम् ।
निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला बाला ॥ ]

वृश्चिक दंशनसे कातर होनेके बहाने यह बाला पतिके सामने ही चतुर सखियों द्वारा इस अवस्थामें दो भुजयुगलको आन्दोलित करते-करते जारवैद्यके घर ले जायी जारही है ॥ ३७ ॥

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं बइल्लेण ।
णिद्धूममुम्मुरव्विअ सामलीअ थणो पडिच्छन्तो ॥ ३८ ॥
[ विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलीवर्देन ।
निर्धूममुर्मुरनिभौ श्यामलायाः स्तनौ पश्यन् ॥ ]

माघके महीनेमें पामरजन, धूमरहित धानकी भूसीकी अग्निके समान

उष्णतादायक श्यामाके स्तनद्वयकी प्रतीक्षाकर, बैल खरीदनेकी आशामें अपनी शीतनिवारणकी सामग्रीभी बेंचडालता है ॥ ३८ ॥

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअह्मि पुण्णे तडम्मि तावीए।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ ॥ ३९ ॥
[ सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः।
अद्यापि तत्र निकुञ्जे निपतति दृष्टिस्तथैव ॥ ]

सचही कहरहा हूँ कि मरणपथपर सन्निहित अवश्यही गयी हूँ, किन्तु आज भी तापीनदीके पुण्यतटपर स्थित उस निकुञ्जकीओर मेरी दृष्टि उसी भावसे पडरही है ॥ ३९ ॥

अन्धअरबोरपत्तं व माउआ मह पइं विलुम्पन्ति।
ईसाअन्ति महं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ ॥ ४० ॥
[ अन्धकरबदरपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुम्पन्ति।
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लाङ्गूलेभ्यः फणो जातः ॥ ]

हे माताओ, अन्धेके हाथमें स्थित बेरपात्रकी भाँति मेरे पतिके प्रेमको ये असती लूटले जारही हैं एवं मेरे प्रति ईर्ष्यापरायण बनरही हैं, मानो पुच्छसे ही फणकी उत्पत्ति होती है ( अर्थात् दशन योग्य पुच्छही फणरूप से दंशक हुई ) ॥ ४० ॥

अप्पत्तपत्तअं पाविऊण णवरङ्गअं हलिअसोण्हा।
उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु ॥ ४१ ॥
[ अप्राप्तं प्राप्य नवरङ्गकं हलिकस्नुषा।
पश्यत तन्वी न माति विस्तीर्णास्वपि ग्रामरथ्यासु ॥ ]

तुमलोग देखो, अलभ्यलाभकुसुम्भवस्त्र पाकर ही हालिक पुत्रवधू स्वतः तन्वाकृतिहोकर भी विस्तीर्ण ग्राम मार्गोंपर अपनेको संतुलित नहीं रख पा रही है ॥ ४१ ॥

आक्खेवआइँ पिअजम्पिआइँ परहिअअणिव्वुदिअराइं।
विरलो खु जाणइ जणो उप्पण्णे जम्पिअव्वाइं ॥ ४२ ॥
[ आक्षेपकाणि प्रियजल्पितानि परहृदयनिर्वृतिकराणि।
विरलः खलु जानाति जन उत्पन्ने जल्पितव्यानि ॥ ]

प्रयोजन उपस्थित होनेपर वक्तव्य, प्रतिवादीकेलिए निन्दासूचक, फिर

भी दूसरेके हृदयको सन्तोष देनेवाले प्रियवाक्य इनेगिने व्यक्ति ही जानते हैं ॥ ४२ ॥

छज्जइ पहुस्स ललिअं पिआइ माणो खमा समत्थस्स ।
जाणन्तस्स अ भणिअं मोणं च अआणमाणस्स ॥ ४३ ॥
[ शोभते प्रभोर्ललितं प्रियाया मानः क्षमा समर्थस्य ।
जानतश्च भणितं मौनं चाजानतः ॥ ]

प्रभुकी स्वेच्छाक्रीडादि, प्रियाके मान, समर्थों की क्षमा, ज्ञानियों का कथन एवं अज्ञानीका मौन शोभा पाते हैं ॥ ४३ ॥

वेविरसिण्णकरङ्गुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे ।
सोत्थि व्विअ ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो ॥४४॥
[ वेपनशीलस्विन्नकराङ्गुलि परिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।
स्वस्त्येव न समाप्यते प्रियसखि लेखे किं लिखामः ॥ ]

अरी प्रियसखि, लेखमें मैं और क्या लिखूँगी ? मेरे कम्पनशील एवं स्वेदयुक्त अङ्गुलीके परिग्रहसे 'स्खलित लेखनीके मार्गमें 'स्वस्ति' लिखना ही समाप्त नहीं होता ॥ ४४ ॥

देव्वम्मि पराहुत्ते पत्तिअ घडिअं पि विहडइ णराणं ।
कज्जं वालुअवरणं व्व कहँ पि बन्धं विअ ण एइ ॥ ४५ ॥
[ दैवे पराङ्मुखे प्रतीहि घटितमपि विघटते नराणाम् ।
कार्यं वालुकावरण इव कथमपि बन्धमेव न ददाति ॥ ]

दैव यदि पराङ्मुख हो तो मानवकृत कार्य भी नष्ट हो जाता है, इसपर विश्वास करना, इस अवस्थामें वालुकानिर्मित दीवालकी नाई कोई कार्य रोक नहीं मानता ॥ ४५ ॥

मामि हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मज्जमाणाए ।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥ ४६ ॥
[ मातुलानि हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जन्त्याः ।
स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतो जलं पिबता ॥

हे मामी, मानशीला मेरे स्नान-हरिद्रा द्वारा कटुक जलके प्रवाहगत होनेपर उसे पीकर उस युवकने जैसे मेरेही हृदयको पी डाला है ॥ ४६ ॥

[ सोऽर्थो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।
तद्रूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥ ]

वही वास्तविक अर्थ है जो हस्तगत हो गया है, वही मित्र है जो व्यसनमें निरन्तर समीप रहे, वही रूप है जिसमें गुणोंका सयोगभी हो, एवं वही विज्ञान है जिसमें धर्मभी रहे ॥ ५१ ॥

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि ।
चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥ ५२ ॥
[ चन्द्रमुखि चन्द्रधवला दीर्घा दीर्घाक्षि तव वियोगे ।
चतुर्यामा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥ ]

हे शशिवदने, दीर्घलोचने, तुम्हारे विरह में चन्द्रधवल दीर्घ एवं चातुर्याम विशिष्ट होनेपर भी शतयामपरिमित रूपमें प्रतिभासित यामिनीको मैंने किस प्रकार विताया है ? ॥ ५२ ॥

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ ॥ ५३ ॥
[ अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।
मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥ ]

जब तक मुखमें भोजन द्रव्य रहता है, तभी तक अकुलीन द्विमुख खलगण मृदङ्गकी नाईं मधुर बातें करते हैं, किन्तु भोज्य वस्तुके जीर्ण होजानेपर विरस बातों में निन्दा आदि करते हैं ॥ ५३ ॥

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअ अत्तद्धतारअं पहिओ ।
जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥
[ तथा स्नुषया प्रलोकितो दरवलितार्धतारक पथिक ।
यथा वारितोऽपि गृहस्वामिना अलिन्दके सुप्त ॥ ]

आँखके आधे तारेको थोड़ा बल देकर गृहस्थकी पुत्रवधूने पथिकको इस प्रकार देखा है कि गृहस्वामीद्वारा वर्जितहोकरभी वह गृहके अलिन्दमेंही वास करने लगा ॥ ५४ ॥

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरं ॥ ५५ ॥

[ लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये।
निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥ ]

पर्वतके समान उन्नत व्यक्तिको भी दो कार्य शीघ्र ही लघुकर डालते हैं—(प्रथम) कार्यके अनिष्पन्न होनेपरभी आत्मगुणोंका निवेदन एवं (द्वितीय) कार्यके निष्पन्न होनेपरभी आत्मश्लाघाका निवेदन ॥ ५५ ॥

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि।
उण्णामिअकलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥
[ कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि।
उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥ ]

हे पुत्रि, उन्नत कलशद्वयके ऊपर निवेशित पूजापद्मकी भाँति अपने तुङ्ग स्तनद्वयकेऊपर उत्क्षिप्तवदनको रख दरवाजेपर खड़ी होकर तुम किसको हेर रही हो ॥ ५६ ॥

वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणं।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ५७ ॥
[ वृतिविवरनिर्गतदल एरण्डः साधयतीव तरुणेभ्यः।
अत्रगृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥ ]

वेष्टनके छिद्रसे पत्र निकालकर एरण्डवृक्ष तक तरुणजनोंके निकट यह सूचितकर रहा है कि इस घरमें वृहद् स्तनान्वित हलिकवधू वासकर रही है ॥ ५७ ॥

गअकलह कुम्भसंणिहघणपीणणिरन्तरेहिँ तुङ्गेहिं।
उस्ससिउं पि ण तीरइ किं उण गन्तुं हअथणेहिं ॥ ५८ ॥
[ गजकलभकुम्भसंनिभघनपीननिरन्तराभ्यां तुङ्गाभ्याम्।
उच्छ्वसितुमपि न तीरयति किं पुनर्गन्तुं हतस्तनाभ्याम् ॥ ]

हस्तिशावकके कुम्भसदृश, घनसन्निविष्ट, पीन, निरन्तर एवं तुङ्ग स्तनहतकद्वयके भारसे यह रमणी श्वास-प्रश्वासका कार्य ही सम्पादित नहीं कर पारही है, जानेकी बात तो दूर रही ॥ ५८ ॥

मासपसूअं छम्मासगब्भिणिं एक्कदिअहजरिअं च।
रङ्गुत्तिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि ॥ ५९ ॥
[ मासप्रसूतां षण्मासगर्भिणीमेकदिवसज्वरितां च।
रङ्गोत्तीर्णां च प्रियां पुत्रक कामयमानो भव ॥ ]

हे पुत्रक, मासमात्र प्रसूता, छह मास गर्भिणी, एक दिनके ज्वरसे आतुरा एवं रङ्गभूमिसे प्रत्यागता, इस प्रकार प्रियाओंके प्रति कामयमान होना ॥ ५९ ॥

पडिवक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णउडे अणङ्गगअकुम्भे ।
पुरिससअहिअअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥
[ प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकुटावनङ्गगजकुम्भौ ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥ ]

सपत्नीरूप प्रतिपक्षके मनस्तापविधायक, लावण्यकलश सदृश, मदन हस्तीके कुम्भ तुल्य एवं शतशत पुरुषोंके हृदयमें अभिलषित अपने स्तनद्वय किस कारण कोंखने जैसे शब्दोंके साथ वहन कर रही हो ॥ ६० ॥

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स ।
अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥
[ गृहिणी घनस्तनप्रेरणसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य ।
अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसा सुखयन्ति ॥ ]

गृहिणीके स्थूलस्तनपीडनजनित सुखकेलिमें निमग्न अचिर भविष्यमें प्रवासगामी नायकके पक्षमें शकुनशास्त्र विरोधी मङ्गलवार एवं भद्रादोषमें अशुभ दिवस यात्राविरोधी होनेके कारण सुखदायक प्रतीत होते हैं ॥ ६१ ॥

सा तुह कएण बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।
ओससइ वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥
[ सा तव कृतेन बालकानिशं गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।
अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥ ]

हे बालक, तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षामें वह दीना नायिका सर्वदा वन्दनमालिकाकी नाईं गृहद्वारके तोरणपर बैठी रहकर एक दिनमें ही शुष्क होती जा रही है ॥ ६२ ॥

हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहि पहिएहिं ।
पत्तअफलाणँ सरिसे उड्डीणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥
[ हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।
पत्रफलानां सदृशे उड्डीने शुकवृन्दे ॥ ]

शुष्क वटवृक्षके तले उपस्थित पथिक, पत्र एवं फलके समान शुकोंके उड़ आनेपर, हाथ से ताली बजाकर हँसे थे ॥ ६३ ॥

अज्ज मिह हासिआ मामि तेण पाएसु तह पडन्तेण ।
तीए वि जलन्तिं दीववत्तिमब्भुण्णअन्तीए ॥ ६४ ॥
[ अद्यास्मि हासिता मातुलानि तेन पादयोस्तथा पतता ।
तयापि ज्वलन्तीं दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या ॥ ]

हे मामी, आज सखीके चरणोंपर उसी प्रकार गिर कर उस नायकने एवं जलती हुई दीपवर्त्तिकाको समधिक उत्तेजित कर सखीने मुझे खूब हँसाया है ॥६४॥

अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराओ ।
अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिआईए ॥ ६५ ॥
[ अनुवर्तनं कुर्वन्द्वेष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।
आत्मवशोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनतायाः ॥ ]

मुखराग अपरिवर्त्तित रखकर सुजन अप्रियजनके अनुवर्तन करनेपर यही समझा जायगा कि यह आत्मवश होनेपर भी कभी कुलीनताका भी वशवर्त्ती हो सकता है ॥ ६५ ॥

अणुदिअहवड्ढिआअरविण्णाणगुणेहिँ जणिअमाहप्पो ।
पुत्तअ अहिआअजणो विरज्जमाणो वि दुल्लक्खो ॥ ६६ ॥
[ अनुदिवसवर्धितादरविज्ञान गुणैर्जनित माहात्म्यः ।
पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥ ]

हे पुत्रक, प्रतिदिन संवर्द्धित आदरसमन्वित विज्ञानगुणद्वारा अपने माहात्म्यको प्रकाशितकर सत्कुल जात महिलाएँ वर्जित होनेपरभी तद्रूप हो अतिकष्टमें दिखती हैं ॥ ६६ ॥

विण्णाणगुणमहग्घे पुरिसे वेसत्तणं पि रमणिज्जं ।
जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥
[ विज्ञानगुणमहार्घे पुरुषे द्वेष्यत्वमपि रमणीयम् ।
जननिन्दिते पुनर्जने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥ ]

विज्ञानगुणमें अत्यन्त आदरणीय व्यक्तिके मेरेप्रति द्वेष्यभाव रखने पर भी यह रमणीय है, किन्तु संसार जिसकी निन्दा करता है, ऐसे व्यक्तिका प्रियत्व पानेपर भी मैं लज्जित होती हूँ ॥ ६७ ॥

कहँ णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ ।
अहवा महिलाणँ चिरं को वि ण हिअअम्मि संठाइ ॥६८॥

[ कथं नाम तस्यास्तथा स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभारः पतितः।
अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्ठते ॥ ]

उस नायिकाके उतने स्वभावगुरु स्तनभार किसप्रकार अवनत हुए? अथवा महिलाओंके हृदयमें कोई चिरकालतक टिका नहीं रह सकता ॥ ६८ ॥

सुअणु वअणं छिवन्तं सूरं मा साउलीअ वारेहि।
एअस्स पङ्कअस्स अ जाणउ कअरं सुहप्फंसं ॥ ६९ ॥

[ सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय।
एतस्य पङ्कजस्य च जानातु कतरत्सुखस्पर्शम् ॥ ]

हे सुतनु, अपने वदनको स्पर्शकरनेवाले सूर्यको तुम वस्त्राञ्चल द्वारा रोकना मत, तुम्हारे वदन और कमलमें किसका स्पर्श अधिक सुखद है, यह सूर्यको जानलेने दो ॥ ६९ ॥

माणोसहं व पिज्जइ पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स।
करसंपुडवलिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥

[ मानौषधमिव पीयते प्रियया मनस्विन्या दयितस्य।
करसंपुटवलितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥ ]

प्रियतमकि करसम्पुट द्वारा उपर उठाये गए मुखवेवाली मनस्विनी प्रिया प्रियतमप्रदत्त मदिरागण्डूषको मान दूर करनेकी औषधिरूप में पी रही है ॥७०॥

कहँ सा णिव्वण्णिज्जइ जीअ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि।
दिट्ठी दुव्वलगाई व्व पङ्कपडिआ ण उत्तरइ ॥ ७१ ॥

[ कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे।
दृष्टिर्दुर्बला गौरिव पङ्कपतिता नोत्तरति ॥ ]

जिस रमणीके जिस अङ्गपर जिस किसीकी दृष्टि पड़ जाती है, वहाँसे पङ्कपतिता दुर्बल गायकी भाँति वह फिर ऊपर नहीं उठती, [उसके समग्र सौन्दर्यका वर्णन किस प्रकार हो सकता है? ॥ ७१ ॥

कीरन्ती व्विअ णासइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती।
सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

[ क्रियमाणैव नश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री।
सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाणरेखेव ॥ ]

खलोंमें स्थापित की जानेवाली मैत्री जलमें खींची गयी रेखाकी भाँति लुप्त हो जाती है, किन्तु वही मैत्री सुजनमें स्थापित होने पर पाषाणमें खींची गयी क्षतिविहीन रेखाकी भाँति स्थायी होती है ॥ ७२ ॥

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ ७३ ॥
[ अव्वो दुष्करकारक पुनरपि चिन्ता करोपि गमनस्य ।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुरा ॥ ]

हे दुष्करकर्मकारक, यह अत्यन्त कष्टका विषय है कि तुम पुन प्रवासमें जानेकी सोचरहे हो, आज तक हमारी वेणीके तरङ्गायित केशसमूह सीधे नहीं हुए ॥ ७३ ॥

ण वि तह छेअरआइँ वि हरन्ति पुणरुत्तराअरसिआइं ।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावणेहरमिआइं ॥ ७४ ॥
[ नापि तथा छेकरतान्यपि हरन्ति पुनरुक्तरागरसिकानि ।
यथा यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा सद्भावस्नेहरमितानि ॥ ]

विदग्धजनोंके बारबार आचरित अनुरागरसमें पूर्णरमणभी मनका उतना हरण नहीं करता, जितना जहाँ तहाँ, जिस तिस भावसे आचरित सद्भाव एवं स्नेहविशिष्ट रमण करता है ॥ ७४ ॥

उज्झसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअ त्ति ।
उवरिभरेण अ अण्णुअ मुअइ वइल्लो वि अङ्गाइं ॥७५॥
[ उह्यसे प्रियया सम तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति ।
उपरि भरेण च हे अज्ञ मुञ्चति बलीवर्दोऽप्यङ्गानि ॥ ]
तुम्हारी अपनी नूतन प्रिया के साथ तुम्हें अपने चित्तपर ढो रही हूँ । अरे, फिर भी तुम पूछ रहे हो कि 'मैं कृशा क्यों होती जा रही हूँ' । हे अज्ञ, ऊपर भार लाददेनेपर बैलभी शरीरत्याग करडालता है ॥ ७५ ॥

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।
अह्मेहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ ॥ ७६ ॥
[ दृढमूलबन्धग्रन्थी इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू ।
अस्माभिरपि तस्योरसि निखाताविव समुत्खातौ स्तनौ ॥ ]

उस नायकने अत्यन्तकष्टसे मेरे हृदभावसे मूलबन्धग्रन्थिमें ग्रथित दोनों बाहुओंको छोड़ा था, एवं मैंने भी किसी प्रकार उसके वक्षःस्थलके ऊपर उभड़े हुए स्तनद्वय को छोड़ दिया है ॥ ७६ ॥

अणुणअपसाइआए तुज्झ वराहे चिरं गणन्तीए ।
अपहुत्तोहअहत्थङ्गुलीअ तीए चिरं रुण्णं ॥ ७७ ॥
[ अनुनयप्रसादितया तवापराधांश्चिरं गणयन्त्या ।
अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तया चिरं रुदितम् ॥ ]

मेरे अनुनयसे प्रसन्न होकर भी वह बहुत देरतक तुम्हारे अपराधोंकी गणना करते-करते, दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको असमर्थ जान बहुत देर रोयी थी ॥७७॥

सेअच्छलेण पेच्छह तणुए अङ्गम्मिसे अमाअन्तं ।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए ॥ ७८ ॥
[ स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेऽङ्गे तस्या अमात् ।
लावण्यमपसरतीव त्रिवलीसोपानपंक्तिभिः ॥ ]

देखो, उस नायिकाका लावण्य, उसके कृश अङ्गमें समा न सकनेपर जैसे स्वेदके बहाने त्रिवली ( उदरभागकी लम्बी रोमरेखा ) रूप सोपानपंक्ति द्वारा उतर रहा है ॥ ७८ ॥

देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो ।
कङ्केल्लिपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा ॥ ७९ ॥
[ दैवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भणामः ।
कङ्केल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः ॥ ]

कारण, फल दैवाधीन है, अतः उस विषयमें और क्या किया जाय, किन्तु इतना कह सकती हूँ कि अशोकके पल्लवके सरीखे पल्लव नहीं होते ॥ ७९ ॥

धुअइ व्व मअकलङ्कं कवोलपडिअस्स माणिणी उअह ।
अणवरअवाहजलभरिअणअणकलसेहिँ चन्दस्स ॥ ८० ॥
[ धावतीव मृगकलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी पश्यत ।
अनवरतबाष्पजलभृतनयनकलशाभ्यां चन्द्रस्य ॥ ]

देखो, मानिनी कपोलपर प्रतिबिम्बित चन्द्रके मृगरूप कलङ्कको अनवरत प्रवाही बाष्पजलसे पूर्ण नयनकलशद्वय द्वारा जैसे धो रही है ॥ ८० ॥

गन्धेण अप्पणो मालिआणँ णोमालिआ ण फुट्टिहइ।
अण्णो को वि हआसइ मंसलो परिमलुग्गारो ॥ ८१ ॥

[ गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका न च्युता भविष्यति।
अन्यः कोऽपि हताशाया मांसलः परिमलोद्गारः ॥ ]

अन्यान्य पुष्पोंके साथ मालिकामें स्थित नवमालिका पुष्प कभी भी अपने गन्धसे च्युत या भ्रष्ट नहीं होता। इस हताशा पुष्पवधूसे किसी अन्य प्रकारका घना परिमल निकलता है ॥ ८१ ॥

फलसंपत्तीअ समोणआइँ तुङ्गाइँ फलविपत्तीए।
हिअआइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइं ॥ ८२ ॥

[ फलसंपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या।
हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि ॥ ]

महावृक्षके शिखरकी भाँति सत्पुरुषोंका हृदय फल-सम्पत्तिसे अत्यन्त अवनत एवं फलविपत्तिसे उन्नत रहता है ॥ ८२ ॥

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए।
णित्थाणुवत्तणे वलिअहत्थमुहलो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[ आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः।
निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः ॥ ]

पथिककी जाया जब शय्याके ऊपर दुःसह भावसे करवट बदलती है, तब उसके संचलित हाथसे मुखर वलयका शब्द ही उसके जीवनके सम्बंधमें परिजनोंको आश्वासित करता है ॥ ८३ ॥

तुङ्गो च्चिअ होइ मणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासु।
अत्थमणम्मि वि रइणो किरणा उद्धं चिअ फुरन्ति ॥ ८४ ॥

[ तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु।
अस्तमनेऽपि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥ ]

अन्तिम दशामें भी मनस्वीका मन उन्नत ही रहता है, अस्त-गमनके समय भी सूर्यकी किरणें ऊपर ही स्फुरित होती हैं ॥ ८४ ॥

पोट्टं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुव्विग्गा।
विहलुद्धरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सप्पुरिसा ॥ ८५ ॥

[ उदरं बिभ्रति शकुना अपि हे मातर आत्मनोऽनुद्विग्नाः ।
विह्वलोद्धरणस्वभावा भवन्ति यदि केऽपि सत्पुरुषाः ॥ ]

हे माताओ, अन्यकी उदरपूर्तिकी चिन्ता किये बिना खग बिना किसी उद्वेगके अपना पेट भर लेते हैं, किन्तु कोई यदि सत्पुरुष हो तो उसका स्वभाव दुर्गतजनोंके उद्धारमें संलग्न होता है ॥ ८५ ॥

ण विणा सब्भावेण घेप्पइ परमत्थजाणुओ लोओ ।
को जुण्णमज्जरं कञ्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ ८६ ॥

[ न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः ।
को जीर्णमार्जारं काञ्जिकया प्रतारयितुं शक्नोति ॥ ]

सद्भावके अतिरेकसे किसीसे परमार्थज्ञ नहीं माना जाता। कौन वृद्ध बिडाल को केवल काञ्जिक ( भिगोये भातके पानी ) द्वारा ठग सकता है ? ॥ ८६ ॥

रण्णाउ तणं रण्णाउ पाणिअं सव्वअं सअंगाहं ।
तह वि मआणं मईणं अ आमरणन्ताइं पेम्माइं ॥ ८७ ॥

[ अरण्यात्तृणमरण्यात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राह्यम् ।
तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्तानि प्रेमाणि ॥ ]

मृग-मृगीको जङ्गलसे स्वतः प्राप्त तृण एवं जल ही ग्रहण करना पड़ता है। फिर भी मृग-मृगीका प्रेम आजीवन स्थायी होता है॥ ८७ ॥

तावमवणेइ ण तहा चन्दणपङ्को वि कामिमिहुणाणं ।
जह दूसहे वि गिम्हे अण्णोण्णालिङ्गणसुहेल्ली ॥ ८८ ॥

[ तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।
यथा दुःसहेऽपि ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गन सुखकेलिः ॥ ]

जिसा चन्दन भी कामियोंका ताप उतना दूर नहीं कर पाता, जितना ग्रीष्मकालमें भी परस्परालिङ्गनरूप सुखकेलि दूर कर देता है ॥ ८८ ॥

तुप्पाणणा किणो चिट्ठसि त्ति परिपुच्छिआएँ बहुआए ।
विउणावेढिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ८९ ॥

[ घृतलिप्तानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्टया वध्वा ।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥ ]

'घी मुँहमें पोतकर क्यों बैठी हो', इस प्रकार पूछी जानेपर वधू पहलेकी अपेक्षा अपने जंघोंको दोहरा ढककर लज्जावनत मुखसे हँसने लगी ॥ ८९ ॥

हिअअ च्चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारं।
बान्धवदुव्वअणं विअ दोहलओ दुग्गअवहूए॥ ९०॥
[ हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम्।
बान्धवदुर्वचनमिव दोहदो दुर्गतवध्वा ॥ ]

दुर्गत वधू अपने घरकी सामर्थ्य जानती है, इसीलिये गर्भवती अपनी इच्छा की बात, बान्धवोंके कुटिल वचनकी भाँति अपने हृदयमें ही रखती है, किसीको बताती नहीं ॥ ९० ॥

धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणवावडकरग्गा।
चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ९१॥
[ धावति विगलितधम्मिल्लसिचयसंयमनव्यापृतकराग्रा।
चन्दिलभयविपलायमानडिम्भपरिमार्गिणी गृहिणी ॥ ]

नाई के भय से भागनेवाले शिशुको खोजनेवाली गृहिणी अपने खुले हुए बालों एवं आँचलको संयमित करनेमें निरतहस्ता होकर दौड़ रही है ॥ ९१ ॥

जह जह उव्वहइ वहू णवजोव्वणमणहराइँ अङ्गाइं।
तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो॥ ९२॥
[ यथा यथोद्वहते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गानि।
तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्ष ॥ ]

वधू जैसे जैसे अपने नवयौवनसे मनोहर अङ्गोंका वहन करती है, वैसे ही वैसे उसकी कमर, प्रियजन एवं सभी शत्रु कृश होने लगते हैं ॥ ९२ ॥

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरूओ वि।
कुलवालिआणँ तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ॥ ९३॥
[ यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतो विरूपोऽपि।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति ॥ ]

पति जितना अधिक जराजीर्ण, दुर्गत एवं विरूप होता जाता है, कुलपालिका नारियोंके लिए उतना ही प्रिय होता चला जाता है ॥ ९३ ॥

एसो मामि जुवाणो वारंवारेण जं अडअणाओ।
गिम्हे गामेक्कवडोअअं व किच्छेण पावन्ति ॥ ९४॥
[ एष मातुलानि युवा वारवारेण यमसत्यः।
ग्रीष्मे ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्राप्नुवन्ति ॥ ]

हे मामी, यही वह युवा पुरुष है जिसे गाँवकी असती स्त्रियाँ, ग्रीष्ममें ग्रामके सन्निकटस्थ कूएँके शीतल जलकी भाँति अत्यन्त कष्टसे पाती हैं ॥ ९४ ॥

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणँ पण्डुरच्छाअं।
हिअएण समं असईणँ पडइ वाआहअं पत्तं॥ ९५॥
[ ग्रामवटस्य पितृष्वस आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम्।
हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहत पत्रम्॥ ]

हे बुआ, पीतमुखी असतियोंके मनके साथ ही साथ गाँवके वटवृक्षके पीतवर्ण पत्रसमूह हवासे आहत हो गिरे जा रहे हैं ॥ ९५ ॥

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि॥ ९६॥
[ पश्यत्यलब्धलक्ष्य दीर्घं निःश्वसिति शून्यं हसति।
यथा जल्पत्यस्फुटार्थं तथा तस्या हृदयस्थित किमपि॥ ]

जब युवती बिना लक्ष्यके ही दृष्टिपात कर रही है, दीर्घनिःश्वास फेंक रही है, सूनी हँसी हँस रही है, एवं अस्पष्टार्थ भावसे न जाने क्या आलाप कर रही है, तब ऐसा लगता है कि शायद उसके मनमें कुछ न कुछ है ही ॥ ९६ ॥

गहवइ गओम्ह सरणं रक्खसु एअं त्ति अडअणा भणिरी।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो च्चिअ जारमप्पेइ॥ ९७॥
[ गृहपते गतोऽस्माकं शरणं रक्षैनमित्यसती भणित्वा।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति॥ ]

हे गृहस्वामी, यह पुरुष हमारा शरणागत हुआ है, इसकी रक्षा करो— कहकर असतीने सहसा आये हुए पतिके हाथों जारको सौंप दिया ॥ ९७ ॥

हिअअट्ठिअस्स दिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा।
हिअअट्ठिओम्ह कंतो भणिउं मोहं गआ कुमरी॥ ९८॥
[ हृदयस्थितस्य दीयतां तनूभवन्तीं न पश्यथ पितृष्वसः।
हृदयस्थितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमारी॥ ]

अरी बुआ, इस कुमारीको इसके मनोवाञ्छित व्यक्तिको ही समर्पित कर, यह दुर्बल होता जा रहा है, क्या यह तुम्हें दीख नहीं रहा है? 'मेरा हृदयहार पुरुष कहाँ है', यह कहकर कुमारी मोहग्रस्त हो गयी है ॥ ९८ ॥

खिणस्सउरे पइणो ठवेइ गिम्हावरण्हरमिअस्स।
ओल्लं गलन्तकुसुमं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारं॥ ९९॥
[ खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम्॥ ]

ग्रीष्मकालके अपराह्ण समय रमणकरनेवाले खिन्न पतिके वक्षःस्थलके ऊपर वह अपना आर्द्र, गलितपुष्प एवं स्नानसुगन्धियुक्त केशभार स्थापित कर रही है॥ ९९॥

अह सरदन्तमण्डलकवोलपडिमागओ मअच्छीए।
अन्तो सिन्दूरिअसङ्खवत्तकरणिं वहइ चन्दो॥ १००॥
[ असौ सरसदन्तमण्डलकपोलप्रतिमागतो मृगाक्ष्याः।
अन्तः सिन्दूरितशङ्खपात्रसादृश्यं वहति चन्द्रः॥ ]

मृगनयनीके सरस दन्तक्षतमण्डलयुक्त कपोलपर प्रतिबिम्बित हो चन्द्र, बीचमें सिन्दूरवर्णयुक्त शङ्खपात्र की समानता पा जाता है॥ १००॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मअए।
सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअं॥ १०१॥
[ रसिकजन हृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत्॥ ]

कविवत्सल प्रमुख सुकवियों द्वारा रचित, रसिकों के हृदयहार सप्तशती में यह तृतीय शतक समाप्त हुआ॥ १०१॥

# चतुर्थ शतक

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेन्छई जारं।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ १ ॥
[ असावस्माकमागतोऽद्य कुलगृहादित्यसती जारम्।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे लगयति ॥ ]

'यह व्यक्ति आज ही मेरे नैहरसे आया है'—ऐसा कहकर असती स्त्री अपने उपपतिको सहसागत पतिके गलेसे लगा देती है ॥ १ ॥

पुसिआ कण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहआ ससिमऊहा।
माणिणिवअणम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण ॥ २ ॥
[ प्रोञ्छिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः।
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन ॥ ]

प्रिय पति मानिनीके वदनपर कर्णाभरणस्थित इन्द्रनीलमणिके प्रभामिश्रित चन्द्रकिरणसमूहको आँसूकी बूँद समझकर पोंछ दे रहा है ॥ २ ॥

एत्तहमेत्तम्मि जए सुन्दरमहिला सहस्समरिए वि।
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स ॥ ३ ॥
[ एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभृतेऽपि।
अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥ ]

सहस्रों सुन्दरियोंसे परिपूर्ण इतने बड़े संसारमें सौन्दर्यके विषयमें केवल इसका ही वामाङ्ग दक्षिणाङ्गका अनुकरणकररहा है ॥ ३ ॥

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि ॥ ४ ॥
[ यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभावस्तब्धेऽपि वृक्षे ॥ ]

प्रेम मेरे चाञ्चल्यका विधायक है, वरन् मेरा प्रिय जैसे जैसे बजायेगा, मैं वैसे वैसे नाचूँगी अर्थात् उसकी इच्छाका पालन करूँगी। स्वभावस्तब्ध वृक्षमें भी चञ्चल लता लिपटी रहती है ॥ ४ ॥

दुक्खेहिँ लब्भइ पिओ लद्धो दुक्खेहिँ होइ साहीणो।
लद्धो वि अलद्धो च्चिअ जइ जह हिअअं तह ण होइ ॥ ५ ॥
[ दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधीनः ।
लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदय तथा न भवति ॥ ]

बड़े कष्टसे प्रियजनोंको प्राप्त किया जाता है, प्राप्त करनेपर भी बड़े कष्टसे उन्हें स्वाधीन किया जाता है और यदि वे हृदयके अनुरूप न हों तो लब्ध होनेपर भी उन्हें अलब्ध ही समझा जाता है ॥ ५ ॥

अव्वो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अकअं कअं कुणन्तीए।
सरलसहावो वि पिओ अविणअमग्गं बलण्णीओ ॥ ६ ॥
[ कष्टमनुनयसुखकाङ्क्षणशीलयाकृत कृतं कुर्वत्या ।
सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्नीत ॥ ]

हाय रे, अनुनयन सुखकी आकाङ्क्षा कर मैंने उसके द्वारा न किये गए अपराधको भी किया गया कहकर सरल स्वभाव प्रियको भी बलपूर्वक अविनय के मार्गमें खींच रही हूँ ॥ ६ ॥

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा।
एण्हि उण केण गणिज्जउ त्ति भणेउ रुअइ मुद्धा ॥ ७ ॥
[ हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणनयातिगता दिवसा ।
इदानीं पुन केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥ ]

हाथ पद पैरोंमें स्थित अङ्गुलियों द्वारा गणनाकर दिनोंको काटा है। अब किसके सहारे यह दिन गणना करूँगी ? ऐसा कहकर मुग्धा रो रही है ॥ ७ ॥

कीरमुहसच्छहेहिँ रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिँ।
बुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहिँ व भिक्खुसंघेहिँ ॥ ८ ॥
[ कीरमुखसदृशै राजते वसुधा पलाशकुसुमैः ।
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसंघैः ॥ ]

बुद्धदेवके चरणवन्दनार्थ धराशायी भिक्षुओंकी भाँति शुकमुखसदृश रक्तवर्ण पलाश पुष्पोंसे वसुधा शोभान्वित हो रही है ॥ ८ ॥

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअ किसोअरि किसं ते।
जं जं तणुअं तं तं पि णिट्ठिअं किं त्थ माणेण ॥ ९ ॥

[ यद्यत्पृथुलमङ्गं तत्तज्जातं कृशोदरि कृशं ते ।
यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥ ]

हे कृशोदरी, तुम्हारे जो-जो अङ्ग स्थूल होते हैं, वे ही कृश हो गए हैं और जो-जो अङ्ग स्वभावतः कृश होते हैं, वे-वे अङ्ग कृशताकी चरमसीमा पर पहुँच गए हैं, इसलिये मान द्वारा क्या मिलेगा ? ॥ ९ ॥

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण ।
मोत्तूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुञ्जाओँ गेह्णन्ति ॥ १० ॥

[ न गुणेन ह्रियते जनो ह्रियते यो येन भावितस्तेन ।
मुक्त्वा पुलिन्दा मौक्तिकानि गुञ्जा गृह्णन्ति ॥ ]

कोई व्यक्ति केवल गुण द्वारा किसी के आकर्षणका विषय नहीं होता। जो व्यक्ति जिस वस्तु द्वारा प्रेम रूप लगाता है, वह व्यक्ति उसी वस्तु द्वारा आकृष्ट होता है। उत्कल के पर्वतवासी पुलिन्दगण मुक्ताको त्यागकर गुञ्जाको ही ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

लङ्कालआणँ पुत्तअ वसन्तमासेक्कलद्धपसराणँ ।
आपीअलोहिआणँ बीहेइ जणो पलासाणँ ॥ ११ ॥

[ लङ्कालयानां पुत्रक वसन्तमासैकलब्ध प्रसराणाम् ।
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥ ]

हे पुत्रक, लङ्कानिवासी पर्वी, अत एवं मांस में अधिकतर प्रसृत एवं अत्यधिक रुधिरपायी राक्षसोंकी भाँति शाखास्थायी, वसन्त मासमें ही अधिकतर प्रसृत एवं ईषत् पीत एवं लोहित वर्ण पलाशपुष्पों से सुन्दर नारियाँ डरती हैं ॥ ११ ॥

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआए वेपमाणाए ।
भिसिणेमित्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअं ॥ १२ ॥

[ गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोच्छ्वसिताया वेपमानायाः ।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥ ]

हर्षसे उच्छ्वसित हो, सात्विक भावसे काँपती हुई नायिका गन्धद्रव्यकी चूर्णमुष्टि ग्रहणकर प्रियतमके ऊपर विकीर्ण करेगी, ऐसा सोचते ही घर्मभावसे उसके हाथमें गन्धजल उत्पन्न हो गया ॥ १२ ॥

पुट्ठिं पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोल्लपत्तचित्तलिअं।
छेआहिँ दिअरजाआहिँ उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥
[ पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पश्चाद्गृहाङ्कोटपत्रचित्रितम्।
विदग्धाभिर्देवरजायाभिः ऋजुके मा कलिष्यसे ॥ ]

हे कृशोदरी, मकानके बादवाले घरमें सन्निहित अङ्कोट वृक्षके पत्ते द्वारा चित्रित अपनी पीठको पोंछ डालो। नहीं तो, अरी सरले, तेरी चतुर देवरानियाँ तुझे समझ जायँगी॥ १३॥

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सि दिट्ठे।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं॥ १४॥
[अक्षिणी तावत्स्थगयिष्यामि द्वाभ्यामपि हस्ताभ्यां तस्मिन्दृष्टे।
अङ्गं कदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं नु च्छादयिष्यामि ॥ ]

उसके दिखायी पड़नेपर, मैंने हाँ ना दो हाथों द्वारा दोनों नेत्रोंको ढक लिया, किन्तु कदम्बके पुष्पकी नाईं पुलकित सारे शरीरको कैसे ढक लूँ? ॥ १४॥

झञ्झावाउत्तणिए घरम्मि रोऊण णीसहणिसण्णं।
दावेइ व गअवइअं विज्जुज्जोओ जलहराणं॥ १५॥
[ झञ्झावातोत्तृणिते गृहे रुदित्वा निःसहनिषण्णाम्।
दर्शयतीव गतपतिकां विद्युद्द्योतो जलधराणाम् ॥ ]

झञ्झावात में तृणशून्यीकृत गृहमें दुसहदुःखेशवश रोदन करने बैठी हुई प्रोषितपतिका रमणीको विद्युत् की ज्योति आकाशवर्ती मेघके निकट दिखायी दे रही है ॥ १५॥

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुग्गामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं ण त्थि ॥ १६॥
[ भुङ्क्ष्व यत्स्वाधीनं कुतो लावणं कुग्रामरिद्धे।
सुभग सलवणेनापि किं तेन स्नेहो यत्र नास्ति ॥ ]

अपने उद्योग द्वारा जो जुट रहा है, उसीका भोजन करो। इस गँवईमें रन्धनकार्यकेलिए लवण कहाँ मिलेगा? हे सुभग, जिस वस्तुमें स्नेह (स्निग्धता) नहीं है, उसके केवल लवण (लावण्य) युक्त होनेसे क्या लाभ? ॥ १६॥

सुहपुच्छिआइ हलिओ मुहपङ्कअसुरहिपवणणिव्वविअं ।
तह पिअइ पअइकडुअं पि ओसहं जण ण णिट्ठाइ ॥ १७ ॥
[ सुखपृच्छिकाया हलिको मुखपद्मसुरभिपवननिर्वापितम् ।
तथा पिबति प्रकृतिकटुकमप्यौषधं यथा न तिष्ठति ॥ ]

हलिकने भी अनुरक्त शरीर सुखजिज्ञासाकारिणीके मुखकमलके समीर द्वारा शीतल किये हुए स्वभाव कटुऔषधिको इस प्रकार पी डाला कि उसका किंचिन्मात्र भी शेष नहीं रहा ॥ १७ ॥

अह सा तहिं तहिं व्विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥
[ अथ सा तत्र तत्रैव वानीरवने विस्मृतसङ्केता ।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानमिव ॥ ]

यादमें वह नायिका सङ्केतस्थलकी बात भूलाकर विस्मृत आधारस्थानकी भाँति, उसी-उसी वाणीकुञ्जमें तुम्हें खोज रही है ॥ १८ ॥

दढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहि विप्पिअं कत्तो ।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥ १९ ॥
[ दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखाद्प्रियं कुतः ।
राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥ ]

अत्युत्कट-रोषवश कलुषित होनेपर भी भले आदमीके मुँहसे अप्रिय बात कहाँ निकलती है ? राहुके मुखमें पड़े हुए चन्द्र किरण अमृत ही देते हैं ॥१९॥

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो ।
पडिकाउं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥
[ अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः ।
प्रतिकर्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ।

वैभवहीन सज्जन अपमानित होनेपर भी उतने क्षुब्ध नहीं होते, जितना कि दूसरों द्वारा माने जानेपर भी वैभवके अभावमें प्रत्युपकारसे असमर्थ होने पर व्यथित होते हैं ॥ २१ ॥

फलहन्तरे वि अविणिग्गआइँ हिअअम्मि जरमुवगआइँ ।
सुअणकआइ रहस्साइँ डहइ आउक्खए अग्गी ॥ २१ ॥

[ कलहान्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये जरामुपगतानि ।
सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहत्यायुर्व्ययेऽग्निः ]

सुजनों द्वारा सुनी हुई भेदकी बातें भी कलहमें उसके मुँहसे नहीं निकलतीं, उसके हृदयमें ही वे नष्ट हो जाती हैं और उसके आयुक्षयके साथ साथ अग्नि उन्हें दग्ध करती हैं ॥ २१ ॥

थुम्पीओ अहुणमाहवीणँ दारग्गलाउ जाआउ ।
आसासो पान्थपलोअणे वि पिट्ठो गअवईणं ॥ २२ ॥
[ स्तबका अहुणमाधवीनां द्वारार्गला जाताः ।
आश्वासः पान्थप्रलोकनेऽपि नष्टो गतपतिकानाम् ॥ ]

आँगनमें आरूढ माधवीलताके गुच्छे घरके दरवाजेके अर्गलास्वरूप हो गए हैं, वरन् प्रोषितपतिकाओंके कर्णोंकेलिए पथिकोंके प्रति दृष्टिक्षेपका आश्वास भी हमेशाकेलिए पूर्णतः नष्ट हो गया है ॥ २२ ॥

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइं ।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा ॥ २३ ॥
[ प्रियदर्शनसुखरसमुकुलिते यदि तस्या न भवतो नयने ।
तदा केन कर्णरचित लक्ष्यते कुवलयं तस्याः ॥ ]

उस नायिकाके नेत्र यदि प्रियदर्शन सुखसे मुकुलित न होते तो क्या उसके कानोंमें रचित नीलकमलको कोई देख सकता ? ॥ २३ ॥

चिक्खिल्लखुत्तहलमुहकड्ढणसिठिले पइम्मि पासुत्ते ।
अप्पत्तमोहणसुहा घणसमअं पामरी सवइ ॥ २४ ॥
[ कर्दमनिमग्नहलमुखकर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुप्ते ।
अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपति ॥ ]

कीचड़में फँसे हुए हलकी नोकको खींचकर थकेहुए पतिके सोजानेपर अप्राप्त सुरतसुखापामरवधू वर्षाकालको अभिशाप दे रही है ॥ २४ ॥

दुम्मेन्ति देन्ति सोक्खं कुणन्ति अणुराअं रमावेन्ति ।
अरइरइबन्धवाणं णमो णमो मअणबाणाणं ॥ २५ ॥
[ दुःखयन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति ।
अरतिरतिबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥ ]

व्याकुलता एवं चिन्तानुरञ्जनके सहायक मदनके बाणोंको नमस्कार करती हूँ, कारण ये सब प्रियकी अनुपस्थितिमें मनोव्यथा भी उत्पन्न करते हैं और सुख भी प्रदान करते हैं, या कभी प्रेमानुराग बढ़ा देते हैं एवं कभी सौमनस्य उत्पन्न कर देते हैं ॥ २५ ॥

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥
[ कुसुममया अप्यतिखरा अलब्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः ।
भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्य शरा बहुविकल्पाः ॥ ]

कामदेवके बाण नाना प्रकार विशिष्ट अर्थात् परस्पर विरुद्धधर्मी हैं। कारण, कुसुममय होनेपर भी वे अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, लक्ष्यवस्तुको स्पर्श किये बिना ही वे उससे दुःसह ताप प्रकट करते हैं एवं हृदय-भेदन करनेपर भी रतिसम्पादन कर्त्ता होते हैं ॥ २६ ॥

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विप्पिअं सहावेन्ति ।
विरहे ण देन्ति मरिउं अहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥ २७ ॥
ईर्ष्यां जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।
विरहे न ददति मर्तुमहो गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥ ]

अहो, प्रिय अथवा कामबाण की गुणावली बहुविध है—कभी तो ये ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं, कभी मदनभाव उद्दीपित करते हैं, कभी अप्रियाचरण सहन कराते हैं एवं विरहमें भी मरनेका अवकाश नहीं देते ॥ २७ ॥

णीआइँ अज्ज णिक्किव पिणद्धणवरङ्गअॅाए घराईए ।
घरपरिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥
[ नीतान्यद्य निष्कृप पिनद्धनवरङ्गकया वराकया ।
गृहपरिपाट्या प्रहेणकानि तव दर्शनाशया ॥ ]

हे निर्दय, तुम्हारे दर्शनकी आशामें वह दीनानायिका नूतन रक्तवस्त्र पहनकर आज यह घर घर बायन बाँट रही थी, किन्तु तुम्हारी अनुकम्पा उसे नहीं मिली ॥ २८ ॥

सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुन्फुआसुअन्धेण ।
धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥

[ सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्निसुगन्धेन ।
धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन ॥ ]

हेमन्तकालमें नायकको गोइंठे की अग्नि सुगन्धिविशिष्ट, धूएँ के कारण पिङ्गल वर्ण एवं सभी प्रकार से विरलसूत्रमय जीर्णवस्त्रद्वारा उसे अत्यन्त दरिद्र सूचित किया जाता है ॥ २९ ॥

खरसिप्पिरउल्लिहिआइँ कुणइ पहिओ हिमागमपहाए ।
आअमणजलोल्लिअहत्थफंसमसिणाइँ अङ्गाइं ॥ ३० ॥

[ तीक्ष्णपलालोल्लिखितानि करोति पथिको हिमागमप्रभाते ।
आचमनजलार्द्रितहस्तस्पर्शमसृणान्यङ्गानि ॥ ]

शिशिरके समागममें प्रभात समय पथिक तीक्ष्ण पुआलद्वारा क्षत अङ्गोंको आचमन जलसे गीले हाथके स्पर्शद्वारा मसृण अथवा चिकना कर रहा है ॥ ३० ॥

णक्खक्खुडीअं सहआरमञ्जरिं पामरस्स सीसम्मि ।
बन्दिम्मिव हीरन्तीं भमरजुआणा अणुसरन्ति ॥ ३१ ॥

[ नखोत्खण्डितां सहकारमञ्जरीं पामरस्य शीर्षे ।
बन्दीमिव ह्रियमाणां भ्रमरयुवानोऽनुसरन्ति ॥ ]

नखद्वारा उन्मूलित एवं पामरों द्वारा सिरपर ले जाती हुई आम्रमञ्जरियोंको बलद्वारा अपहृत बन्दिनी समझकर भ्रमरयुवा उनका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि ।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणँ जेक्कारा ॥ ३२ ॥

[ सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणामयसि ।
हास्यकटाक्षोन्मिश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥ ]

हे पुत्रक, तुम सूर्यके बहाने किसे अञ्जलिदेतेहुए प्रणामकर रहे हो ? देवताओंकी स्तुति हास्य एवं कटाक्षद्वारा मिश्रित होने योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥

मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्किओल्लावं ।
सवहसअरक्खिओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥

[ मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशङ्कितोल्लापं ।
शपथशतरक्षितोष्ठं चोरिकारमितं सुखयति ॥ ]

जिसके मुखमारुत द्वारा दीपक बुझाया जाय, सांस अवरुद्ध हो जाय, सशङ्कभावसे मल्लार बजे, एवं दांत शब्दद्वारा अधरदशन वर्जित हो, यह चौर्यरमण सुख उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं रुअसि णिब्भरुक्कण्ठं।
मण्णुपडिरुद्धकण्ठद्धणिन्तखलिअक्खरुल्लावं ॥ ३४ ॥

[ गेयच्छलेन स्मृत्वा कस्य त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम् ।
मन्युप्रतिरुद्धकण्ठार्धनिर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥ ]

गानेके बहाने किसे स्मरणकर तुम रोती हो, इस रोदनसे तुम्हारी उत्कण्ठा की अतिशयता प्रकट होती है एव इससे तुम्हारे शोकनिरुद्ध कण्ठसे अर्धनि सृत एव स्खलिताक्षर प्रलाप सुनायी पड़ता है ॥ ३४ ॥

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं।
तह जग्गेसु सअज्झिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[ बहलतमा हतरात्रिरद्य प्रोषित पतिर्गृहं शून्यम् ।
तथा जागृहि प्रतिवेशिन् यथा वय मुष्यामहे ॥ ]

दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि गाढान्धकाराच्छन्न है, पति भी आज ही प्रवासार्थ गया है, मेरा घर सूना है। हे पड़ोसी ( उपपति ), इस प्रकार जागृत रहना जिससे हमारे यहाँ चोरी न हो ॥ ३५ ॥

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खइ अणण्णवावारा।
सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोहं ॥ ३६ ॥

[ सञ्जीवनौषधमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा ।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥ ]

सास नवजलधर दर्शनके कारण, कण्ठागत प्राण पुत्रवधूको पुत्रकेलिए सञ्जीवन औषधिके समान समझकर, अनन्यकर्मा होकर रक्षा करती है ॥ ३६ ॥

णूणं हिअअणिहित्ताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि।
अण्णह मणोरहा मे सुहअ कहं तीअ विण्णाआ ॥ ३७ ॥

[ नून हृदयनिहितया वससि जायया अस्माक हृदये ।
अन्यथा मनोरथा मे सुभग कथ तया विज्ञाता ॥ ]

[ हे सुभग, तुम निश्चय ही अपने हृदयमें निहित अपनी भार्याको साथ लेकर मेरे हृदय में वास कर रहे हो; नहीं तो मेरे मनोगतभावको उसने कैसे जान लिया ? ॥ ३७ ॥

तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहिँ कण्णलग्गेहिँ ।
दिण्णं घोलिराहेहिँ पाणिअं दंसणसुहाणं ॥ ३८ ॥
[ त्वयि सुभग अदृश्यमाने तस्या अक्षिभ्यां कर्णलग्नाभ्यां ।
दत्तं घूर्णनशीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्यः ॥ ]

हे सुभग, तुम उसके नयनपथ से अदृश्य होने पर, उसके कर्णपर्यन्त विस्तृत बाष्पसे घूर्णनशील नयनद्वय तुम्हारे दर्शन सुखकेप्रति जलाञ्जलि देरहे थे ॥ ३८ ॥

उप्पेक्खागअ तुह मुहदंसण पडिरुद्धजीविआसाइ ।
दुहिआइ मए कालो कित्तिअमेत्तो व्व णेअव्वो ॥ ३९ ॥
[ उत्प्रेक्षागत त्वन्मुखदर्शनप्रतिरुद्धजीविताशया ।
दुःखितया मया कालः कियन्मात्रो वा नेतव्यः ॥ ]

ध्यान या कल्पनामें प्राप्त तुम्हारे मुखदर्शनद्वारा मेरे जीवनकी आशा स्थापित रही है; किन्तु इस प्रकार दुःखी होकर मैं कितना समय बिताऊँगी ? ॥ ३९ ॥

वोलीणालक्खिअरूअजोव्वणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।
दिट्ठा पणट्ठपोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥ ४० ॥
[ व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।
दृष्टा प्रणष्टपौराण जनपदा जन्मभूमिरिव ॥ ]

हे पुत्री, तुम्हारा पूर्वकालीन रूप यौवन विगलित होनेसे अब वैसा दिखायी नहीं पड़ता एवं तुम विनष्ट पूर्वजोंके निवास ( जन्मभूमि ) की भाँति दिखायी पड़कर किसे दुःख नहीं देती ? ॥ ४० ॥

परिओसविअसिएहिँ भणिअं अच्छीहिँ तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिँ अङ्गेहिं ॥ ४१ ॥
[ परितोषविकसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।
प्रतिपन्नं तयाप्युद्वमत्स्वेदैरङ्गैः ॥ ]

अनेक लोगोंके बीच उस नायकने अपने परितोषविकसित नयनद्वय द्वारा अपना अभिमत प्रकाशित किया । उसे नायिकाने भी उसके बहे हुए स्वेदजल-विशिष्ट अङ्गों द्वारा उस अभिमतको अङ्गीकार कर लिया था ॥ ४१ ॥

एक्कक्कमसंदेसाणुराअवड्ढन्त कोउहल्लाइं ।
दुक्खं असमत्तमणोरहाइँ अच्छन्ति मिहुणाइं ॥ ४२ ॥

[ अन्योन्यसंदेशानुरागवर्धमानकौतूहलानि ।
दुःखमसमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥ ]

दोनों प्रेमी परस्पर प्रेषित प्रणय वार्ताद्वारा उत्पन्न अनुरागमें कौतूहलके बढ़जानेपर मिलन मनोरथ पूरा न कामकरनेके कारण दुःखमें रहरहे हैं ॥ ४२ ॥

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ गोत्तग्गहणेण तस्स सहि कीस ।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व तामरसं ॥ ४३ ॥

[ यदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।
भवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम् ॥ ]

हे सखि, वह यदि तुम्हें प्रिय न होगा तो उसका नाम लेनेपर तुम्हारा मुख सूर्यकिरणके संस्पर्शमें विकसित पद्मकी भाँति प्रतीयमान क्यों होगा ? ॥

माणदुमपरुसपवणस्स मामि सव्वङ्गणिव्वुइअरस्स ।
अवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरङ्गस्स ॥ ४४ ॥

[ मानद्रुमपरुषपवनस्य मातुलानि सर्वाङ्गनिर्वृतिकरस्य ।
अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥ ]

सभी अङ्गोंके सुखविधायक, रतिनाटकके पूर्वरङ्गरूपी आलिङ्गनकी शुभकामना करती हूँ ॥ ४४ ॥

णिअअणुमाणणीसङ्क हिअअ दे पसिअ विरम एत्ताहे ।
अमुणिअपरमत्थजणाणुलग्ग कीस म्ह लहुएसि ॥ ४५ ॥

[ निजकानुमाननिःशङ्क हृदय हे प्रसीद विरमेदानीम् ।
अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न किमित्यस्मांल्लघयसि ॥ ]

हे हृदय, तुम अपने अनुमानद्वारा ही शङ्काशून्य हुए हो, सम्प्रति नायककी खोजसे विरत होओ, ऐसे अज्ञात मर्म व्यक्तिमें आसक्त होना, हम जैसी ललनाओंको इतना छोटा क्यों बना देता है ? ॥ ४५ ॥

ओसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ ।
चन्दो त्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमञ्जलिविलक्खो ॥ ४६ ॥

[ आवसथिकजनः पत्या श्लाघमानेनातिचिरं हसितः ।
चन्द्र इति तव वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः ]

तुम्हारा मुख ही चन्द्र है, ऐसा सोचकर उसके प्रति कुसुमाञ्जलि देनेसे लज्जित अर्घदानादिमें नियमित गृहस्थकी प्रशंसाकर तुम्हारा पति बहुत देर तक हँसा है ॥ ४६ ॥

छिज्जन्तेहिँ अणुदिणं पच्चक्खम्मि वि तुमम्मि अङ्गेहिं ।
बालअ पुच्छिज्जन्ती ण अणिमो कस्स किं भणिमो ॥ ४७ ॥

[ क्षीयमाणैरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वय्यङ्गैः ।
बालक पृच्छ्यमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥ ]

हे बालक, तुम्हारे स्थापित होनेपर भी प्रतिदिन अङ्गोंको क्षीण होते देख इसका कारण पूछे जानेपर मैं किसे क्या उत्तर दूँ? यह नहीं जानती ॥ १७ ॥

अङ्गाणं तणुआरअ सिक्खावअ दीहरोइअव्वाणं ।
विणआइक्कमआरअ मा मा णं पम्हुसिज्जासु ॥ ४८ ॥

[ अङ्गानां तनुकारक शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।
विनयातिक्रमकारक मा मा एनां प्रस्मरिष्यसि ॥ ]

हे नायक, तुम सखीके अङ्गोंकी कृशताके विधायक हो, उसके दीर्घरोदनके मूल शिक्षक एवं शीलभङ्ग करनेके कारण हो। तुम अब कभी उसे स्मरण न करना ॥ ४८ ॥

अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स ।
मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खं ॥ ४९ ॥

[ अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।
मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥ ]

मरणरूप तुष्टि साधनके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकारसे प्रियतमके विरहमें बढ़नेवाला भारी दुःख शान्त न होगा ॥ ४९ ॥

वण्णन्तीहिँ तुह गुणे बहुसो अम्हेहिँ छिञ्छईपुरओ ।
बालअ सअमेअ कओसि दुल्लहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[ वर्णयन्तीभिस्तव गुणान्बहुशोऽस्माभिरसतीपुरतः ।
बालक स्वयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्यामः ॥ ]

असतियों के सामने मैंने ही तुम्हारी गुणावली का बहुत वर्णन किया है। इसके फलस्वरूप, हे बालक, स्वयं मैंने तुम्हें दुर्लभ बनालिया है। किसे कोप दिखायें ॥ ५० ॥

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो ।
पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठिं विमग्गन्तो ॥ ५१ ॥

[ जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः ।
प्रथमापसृतस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयमाणः ॥ ]

[ वचने वचने चलच्छीर्षशून्यावधानहुङ्कारम् ।
सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यस्मान्दुनोषि ॥ ]

हे सखि, प्रत्येक बातमें निःश्वासके समय सिरसञ्चालनकर शून्यावधानके 'हूँ-हूँ' शब्द उच्चारितकर हमलोगोंको संतप्त क्यों करती हो ? ॥ ५६ ॥

सब्भावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।
णत्थि च्चिअ कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥ ५७ ॥

[ सद्भावं पृच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियया ।
नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥ ]

हे बालक, उसके प्रति तुम्हारे सद्भावके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर मुझे तुम्हारी प्रियाने रुलाया है । शपथ दिलानेपर उसने हँसकर मुझे कारण बतलाया कि तुम्हारा सद्भाव एकदम नहीं है ॥ ५७ ॥

एत्थ मए रमिअव्वं तीअ समं चिन्तिऊण हिअएण ।
पामरकरसेओल्ला णिवडइ तुवरी वविज्जन्ती ॥ ५८ ॥

[ अत्र मया रन्तव्यं तया समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।
पामरकरस्वेदार्द्रा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥ ]

इसी अरहरके खेतमें मैं उसके साथ रमण करूँगा; यह सोचते ही पामरके स्वेदोद्गमसे आर्द्र हो उप्यमान ( पकमान ) अरहरका बीज गिर पड़ा ॥ ५८ ॥

गहवइसुओच्चिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए ।
मोहं भमइ पुलइओ विलग्गसेअङ्गुली हत्थो ॥ ५९ ॥

[ गृहपतिसुतावचितेष्वपि कर्पासवृन्तेषु पश्यत वध्वाः ।
मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्नस्वेदाङ्गुलिर्हस्तः ॥ ]

तुमलोग देखो, गृहपतिके पुत्र अर्थात् मेरे पतिद्वारा चयनक्रियेद्दुए कुत्तरापौसयुक्त वृन्तसमूहमें वधूके विलग्नस्वेदान्वित अङ्गुलिविशिष्ट हाथ पुलकित होकर वृथाही आगे बढ़रहा है ॥ ५९ ॥

अज्जं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तू पलाइए हलिए ।
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए ॥ ६० ॥

[ आर्यां मोहनसुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके ।
दरस्फुटितवृन्तभारावनतया हसितमिव कार्पास्या ॥ ]

सुरतसुखिता आर्याको मराहुआ समझकर भयके मारे उसे छोड़कर हलिक

भाग गया, किंचित् खिला हुआ फूल कुन्तसमूहके भारसे अवनत होकर कार्पासी भी मानो हँसने लगा।

णीसासुकम्पिअपुलएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ॥ ६१॥
[ निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः।
अस्मादृशीभिर्दृष्टे प्रिये आत्मापि विस्मृतः॥ ]

नृत्यके समय प्रेमीके अङ्गस्पर्शसे जो निःश्वास उत्कम्प एवं पुलकके साथ नृत्य करना जानती हैं, वे धन्या हैं; किन्तु मेरी जैसी रमणीके प्रियको देख पाते ही आत्मविस्मृत हो जाती हैं॥ ६१॥

तणुएण वि तणुइज्जइ खीणेण वि खिज्जए वलग्गेण।
मज्झत्थेण वि मज्झेण पुत्ति कहँ तुज्झ पडिवक्खो॥ ६२॥
[ तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते वलग्नेन।
मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि कथं तव प्रतिपक्षः॥ ]

हे पुत्रि, तुम्हारी कमर दुबली एवं पतली है, इस कमरके द्वारा तुम अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको दुबली-पतली बनानेमें किस प्रकार समर्थ हो रही हो? ॥ ६२॥

वाहिव्व वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणमज्झवासो व्व।
रिउरिद्धिदंसणम्मिव दूसहणीओ तुह विओओ॥ ६३॥
[ व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव।
रिपुऋद्धिदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः॥ ]

तुम्हारा विरह मेरेलिए वैद्यरहित व्याधिकी भाँति, स्वजनोंके बीच निर्धन हो वासकरनेकी भाँति तथा अपने नेत्रद्वारा शत्रुओंकी समृद्धि देखनेके समान प्रतीत होता है॥ ६३॥

को एत्थ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुङ्गं।
हिअअं तुज्झ णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुं॥ ६४॥
[ कोऽत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोत्तुङ्गम्।
हृदयं तव नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा॥ ]

हे राजन्, पयोधर (स्तन वा मेघ) के अतिरिक्त कौनसी वस्तु इस जगत्में विस्तीर्ण, निर्मल एवं उत्तुङ्ग तुम्हारे हृदय एवं गगनपर अधिकार करनेमें समर्थ है? ॥ ६४॥

आअण्णेइ अडअणा कुडङ्गहेट्ठम्मि दिण्णसङ्केआ।
अग्गपअपेल्लिआणं मम्मरअं जुण्णपत्ताणं॥ ६५॥
[ आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसङ्केता।
अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम्॥ ]

निकुञ्जतले दत्तसङ्केता असती तुम्हारे पादाग्र द्वारा आहत जीर्णपत्रोंका मर-मर शब्द सुन रही है॥ ६५॥

अहिलेन्ति सुरहिणीससिअपरिमलाबद्धमण्डलं भमरा।
अमुणिअचन्दपरिहवं अपुव्वकमलं मुहं तिस्सा॥ ६६॥
[ अभिलीयन्ते सुरभिनि श्वसितपरिमलाबद्धमण्डलं भ्रमराः।
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः॥ ]

अपूर्व कमलके समान नायिकाका जो मुख कभी भी चन्द्रसे पराजित नहीं हुआ, उस मुखसे बहिर्गत सुरभियुक्त निःश्वासका परिमल पानेके लोभमें भौंरे ( कामुकगण ) दल बनाकर मुखकीओर बढ़रहे हैं॥ ६६॥

धीरावलम्बिरीअ वि गुरुअणपुरओ तुमम्मि वोलीणे।
पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हट्ठिओ बाहो॥ ६७॥
धैर्यावलम्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते।
पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पक्ष्मस्थितो बाष्पः॥ ]

तुम्हारे चले जानेपर, गुरुजनोंके सम्मुख धैर्यावलम्बनकर स्थिर रहनेपर भी, नायिकाकी आँख मुँद जानेपर पलक स्थित बाष्प गिर पड़ा॥ ६७॥

भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए।
कइअवसुत्तव्वत्तणथणक्लसप्पेल्लणसुहेल्लिं॥ ६८॥
[ स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम्॥ ]

पहले शयन पराङ्मुखी होनेपर भी, बादमें मानभार विगलित होनेपर उस नायिकाने कपटनिद्राका अवलम्बनकर करवट बदलकर कुचकलशोंकी प्रेरणासे जिस सुखकेलिको उत्पन्न किया था, उसे स्मरण कररहा हूँ॥ ६८॥

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं।
थणअलसमुहपलोट्टन्तसेअधोअं किणो धुअसि॥ ६९॥

[ फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम् ।
स्तनकलशमुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥ ]

न जाने किसने फाल्गुनोत्सव में तुम्हें निर्दोष विचारे बिना कीचड़ लगा दिया है। अपने स्तनकलशके मुखसे निकलित स्वेदद्वारा धोये हुए उस कीचड़को पुनः क्यों धो रही हो ? ॥ ६९ ॥

किं ण भणिओ सि वालअ गामणिधूआइ गुरुअणसमक्खं ।
अणिमिसमीसीसिवलन्तवअणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥ ७० ॥
[ किं न भणितोऽसि बालक ग्रामणीदुहित्रा गुरुजनसमक्षम् ।
अनिमिषमीषदीषद्वलद्वदननयनार्धदृष्टैः ॥ ]

हे बालक, गुरुओंके सम्मुख अनिमिषनयनसे मुखको तिरछाकर कटाक्षद्वारा तुम्हें देखकर ग्रामिणीकी कन्याने तुमसे क्या नहीं कहा ? ॥ ७० ॥

णअणब्भन्तरघोलन्तवाहभरमन्थराइ दिट्ठीए ।
पुणरुत्तपेच्छिरीए वालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥
[ नयनाभ्यन्तरघूर्णमानबाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या ।
पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यन्नभणितोऽसि ॥ ]

नयनाभ्यन्तरमें घूर्णमानबाष्पभरित मन्थर दृष्टिसे तुम्हें बारबार देखकर, हे बालक, उस नायिका ने ऐसा क्या है जिसे तुमसे कह न दिया हो ? ॥ ७१ ॥

जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहिँ गणवई आसी ।
तं व्विअ एह्णि पणमामि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥ ७२ ॥
[ यः शीर्षे वितीर्णो मम युवभिर्गणपतिरासीत् ।
तमेवेदानीं प्रणमामि हतजरे भव संतुष्टा ॥ ]

युवकोंने मेरे सिरपर जिस गणपतिको दान किया था, अब यौवन विगत होनेपर उन्हींको प्रणाम कर रही हूँ । हे हतभागे, तुम सन्तुष्ट होओ ॥ ७२ ॥

अन्तोहुत्तं डज्झइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खाअणिहाणाइँ व रमिअट्ठाणाइँ पेच्छन्तो ॥ ७३ ॥
[ अन्तरभिमुख दह्यते जायाशून्ये गृहे हालिकपुत्र ।
उत्खातनिधानानीव रमितस्थानानि पश्यन् ॥ ]

जायाशून्य घरमें रमणके स्थानोंको, उत्खात सञ्चित निधिके उत्पाटित

स्थानोंकी भाँति समझनेके कारण उसे देखकर हलिकपुत्रके हृदयमें दाहका अनुभव हो रहा है ॥ ७३ ॥

णिद्दाभङ्गो आवण्डुरत्तणं दीहरा अ णीसासा।
जाअन्ति जस्स विरहे तेण समं कीरिसो माणो ॥ ७४ ॥
[ निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासाः।
जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥ ]

जिसके विरहमें निद्राभङ्ग, पाण्डुरता एवं दीर्घनिःश्वास उत्पन्न होता है उसके साथ किस प्रकार मानका अवलम्बन करूँ? ॥ ७४ ॥

तेण ण मरामि मण्णूहिँ पूरिआ अज्ज जेण रे सुहअ।
तोग्गअमणा मरन्ती मा तुज्झ पुणो वि लग्गिस्सं ॥ ७५ ॥
[ तेन न म्रिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग।
त्वद्गतमना म्रियमाणा मा तव पुनरपि लगिष्यामि ॥ ]

हे सुभग, तुम्हारी हृदयेश्वरी होकर मरनेपर भी, कहीं फिर तुम्हें पतिरूपमें न पाऊँ यही सोचकर क्रोधपूर्ण होकर भी मरना नहीं चाहती ॥ ७५ ॥

अवरज्झसु वीसद्धं सव्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे।
गुणणिब्भरम्मि हिअए पत्तिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥
[ अपराध्यस्व विस्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम्।
गुणनिर्भरे हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥ ]

हे सुभग, विस्रब्ध होकर यथाशक्ति अपराध करो, मैं तुम्हारा सब कुछ सहन करूँगी; तुम विश्वास करना कि तुम्हारे गुणोंद्वारा पूर्ण मेरा हृदय तुम्हारे दोषों को स्थान न दे सकेगा ॥ ७६ ॥

भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए।
परिवाहो विअ दुक्खस्स वहइ णअणट्ठिओ वाहो ॥ ७७ ॥
[ भूतोच्चरत्प्रसृतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः।
परीवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो बाष्पः ॥

दीनारमणीकी आँखोंमें स्थित बाष्प, परिपूर्ण होकर निकलनेके साथ ही साथ बृहदावस्थामें प्रिय की स्मृति का चिन्तन करते-करते दुःखके प्रचण्ड प्रवाह की नाईं प्रवाहित हो रहा है ॥ ७७ ॥

जं जं करेसि जं जं जंपसि जह तुम णिअच्छेसि ।
तं तमणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥
[ यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे ।
तत्तदनुशिक्षणशीलाया दीर्घो दिवसो न संपद्यते ॥ ]

तुम जो-जो करते हो, जो-जो बोलते हो एवं जिस प्रकार देखते हो उसका अनुसरण करने वालेवा देखती हूँ कि मेरे दिन दूभर नहीं प्रतीत होते ॥ ७८ ॥

मण्डन्तीअ तणाइं सोत्तुं दिण्णाइँ जाइँ पहिअस्स ।
ताइं च्चेअ पहाए अज्जा आअड्ढइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥
[ मार्दयन्त्या तृणानि स्वप्तुं दत्तानि यानि पथिकस्य ।
तान्येव प्रभाते आर्या आकर्षति रुदती ॥ ]

भार्मनाकर रात्रिमें पथिकको सोनेकेलिए रमणी ने पुआल दिया था, सवेरा होनेपर उसे ही रोते रोते बटोररही है ॥ ७९ ॥

वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा ।
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥
[ व्यसनेऽनुद्विग्ना विभवेऽगर्विता भये धीराः ।
भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषु विषमेषु सत्पुरुषाः ॥ ]

सज्जन व्यक्ति विपदामें अनुद्विग्न, सम्पदमें अगर्वित एवं भयमें धीर रहकर अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियोंमें समत्वभावशील (स्थितप्रज्ञ) रहते हैं ॥ ८० ॥

अज्ज सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लहं भरन्तेण ।
अम्हं मअणसराहअहिअअव्वणफोडनं गीअं ॥ ८१ ॥
[ अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता ।
अस्माकं मदनशराहतहृदयव्रणस्फोटनं गीतम् ॥ ]

अरी सखी, प्रतीत होता है कि आज प्रातःकालही जैसे कोई प्रियतमाको स्मरणकर इस प्रकार गानकर रहा है जिससे मदनबाणद्वारा आहत मेरे हृदय का घाव विदीर्ण हो रहा है ॥ ८१ ॥

उट्ठन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धवहुआए ।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ८२ ॥
[ उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥ ]

शुष्क कपोल विशिष्टा प्रथमगृहिणी मुग्धवधूके आरब्ध महाविस्तार उठे हुए स्तनोंको देखकर निःश्वास फेंक रही है ॥ ८२ ॥

गरुअछुआउलिअस्स वि वल्लहकरिणीमुहं भरन्तस्स ।
सरसो मुणालकवलो गअस्स हत्थे च्चिअ मिलाणो ॥ ८३ ॥
[ गुरुक्षुधाकुलितस्यापि वल्लभकरिणीमुखं स्मरतः ।
सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव म्लानः ॥ ]

अत्यन्त क्षुधातुर होनेपर भी प्रियतमा हथिनीका मुँह स्मरणकर हाथीके शुण्डपर स्थित सरस मृणालकवलभी म्लान होता जा रहा है, भक्षित नहीं हो रहा है ॥ ८३ ॥

पसिअ पिए का कुविआ सुअणु तुमं परअणम्मि को कोवो ।
को हु परो नाथ तुमं कीस अपुण्णाण मे सत्ती ॥ ८४ ॥
[ प्रसीद प्रिये का कुपिता सुतनु त्वं परजने कः कोपः ।
कः खलु परो नाथ त्वं किमित्यपुण्यानां मे शक्तिः ॥ ]

हे प्रिये, प्रसन्न होओ। कौन कुपित हुआ है ? सुतनु, तुमने कोप किया है ? परजनोंके प्रति कोप कैसा ? अरे पराया कौन है ? हे नाथ, तुम्हीं पराया हो। कैसे ? मेरे अपुण्य की शक्ति के सदृश ॥ ८४ ॥

पहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणं ॥ ८५ ॥
[ एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्याः प्रथमार्धम् ।
शेषं सन्तापपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तम् ॥ ]

'तुम आओगे' यह सोचकर रमणी ने प्राय एक निमिषके समान प्रारम्भिक रात्रि का पूर्वार्द्ध जागकर बिताया है, फिर उत्तरार्द्धको विरह-सन्तप्त होकर वर्षके समान काटदिया है ॥ ८५ ॥

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिउब्भन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥
[ अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिकगर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥ ]

इस रमणीको पकड़ो, कोई आशङ्का मत करो, यह ग्रहादि द्वारा आक्रान्त होकर परिभ्रमण नहीं कर रही है, इस पथिकजायाका हृदय आकस्मिक मेघ-गर्जन द्वारा उद्भ्रान्त होकर त्रस्त हो गया है ॥ ८६ ॥

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेत्तिओ कमले।
जइ भमर तेन्तिओ अण्णहिं पि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७॥

[ केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति यावान्कमले।
यदि भ्रमर तावानन्यत्रापि तदा शोभसे भ्रमन् ॥ ]

रे भौंरे, कमलके केसरपराग समूहमें जितना मधु होता है, यदि अन्य पुष्पों में भी उतना ही मधु हो तो तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा लगता है ॥८७॥

पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपण्डुरिअं।
धूअं दुद्धसमुद्दुत्तरन्तलच्छि विअ सअह्वा ॥ ८८॥

[ प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम्।
दुहितरं दुग्धसमुद्रोत्तरल्लक्ष्मीमिव सतृष्णाः ॥ ]

अनिमिषलोचन देवताओंने क्षीरसागरसे उर्ध्वगत पीतवर्ण लक्ष्मीकीओर जिसप्रकार सतृष्णभावसे देखा था, तण्डुलादि चूर्णलेपनद्वारा पीतवर्णप्राप्त हलिक पुत्रीके प्रति राहगीर भी उसी प्रकार निर्निमिष एवं सतृष्ण होकर दृष्टिपात कररहे हैं ॥ ८८॥

कस्स भरिसि त्ति भणिए को मे अत्थि त्ति जम्पमाणाए।
उव्विग्गरोइरीए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८९॥

[ कस्य स्मरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया।
उद्विग्नरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तया ॥ ]

'किसे स्मरणकर रही हो?' ऐसा पूछे जानेपर, 'मेरा कौन है' ऐसा उत्तर दे, उद्वेगसे रोनेवाली उस रमणीने हमलोगोंको भी रुलाया है ॥ ८९॥

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिं ण उट्ठवेसि भत्तारं।
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९०॥

[ पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम्।
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥ ]

हे अनुचित व्यवहार करनेवाली, अभीतक तुम पैरोंपर गिरे हुए भर्त्तारको उठा नहीं रही हो? अत्यन्त वृद्धि प्राप्त प्रेमकी भी यही चरमसीमा है ॥ ९०॥

तडविणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिँ घोलिरणिअम्बा।
सालूरी पडिबिम्बे पुरिसाअन्तिव्व पडिहाइ ॥ ९१॥

[ तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीलनितम्बा।
शालूरी प्रतिबिम्बे पुरुषायमाणेव प्रतिभाति ॥ ]

जलतटपर अगला हाथ रखकर एवं जलतरङ्गद्वारा नितम्बप्रदेशको हिलाकर भेड़की अपने प्रतिबिम्बमें मानों पुरुषोचित अभ्यासरत रही है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ९१ ॥

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअहत्थसिञ्जिअव्वाइं ।
सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ ९२ ॥
[ सीत्कृतमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिञ्जितव्यानि ।
शिक्षन्तु कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥ ]

हे कुसुम्भ, तुम्हारी कृपासेही कुमारियाँ सीत्कार, मणितनामक कूजनविशेष, मुखपरिचालन एवं हस्तकम्पजनित भूषण झनकार करने की शिक्षा पावें ॥ ९२ ॥

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओ सि ।
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ९३ ॥
[ यावत्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि ।
येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥ ]

हे नितम्ब, रथ्या अर्थात् रास्तेका जितना परिमाण है, उतना परिमाण लेकर तुमने जन्म क्यों नहीं लिया ? कारण, गुरुओं के सामने लज्जित होकर हटजानेपर भी वह सुभग तुम्हारेद्वारा छू ही लिया जाता है ॥ ९३ ॥

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ ।
मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअबिन्दुं ॥ ९४ ॥
[ मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः ।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥ ]

वर्षामें मोर विशाल ग्रीव होकर मरकतमणि सूईद्वारा विद्ध मुक्ताके समान दिखायी देनेवाला तिनका अग्र भागमें लगे हुए जलबिन्दुका पान कर रहा है [ तृणलता गृह ही सकेत स्थान है । ] ॥ ९४ ॥

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टं ।
जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्दबिम्बं व्व ॥ ९५ ॥
[ आर्याया नीलकञ्चुकभृतोर्वरितं विभाति स्तनपृष्ठम् ।
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गतं चन्द्रबिम्बमिव ॥ ]

आर्याका स्तनपृष्ठ नीलकञ्चुक द्वारा आवृत होनेपर भी ( उव्वरित या

चुम्बित ) ऊर्ध्वगत होकर अलसूत सुशील अधरके बीचसे ईषत् उद्गत चन्द्र-मण्डलकी नाईं शोभा पा रहा है ॥ ९५ ॥

रायविरुद्धं व कहं पहिओ पहिअस्स साहइ ससङ्कं।
जत्तो अम्बाण दलं तत्तो दरणिग्गअं किं वि ॥ ९६ ॥
[ राजविरुद्धमिव कथां पथिकः पथिकस्य कथयति सशङ्कम्।
यत आम्राणां दलं तत ईषन्निर्गतं किमपि ॥ ]

'आम्रवृक्षके जिस स्थानसे पत्तेका उद्गम होता है, उस स्थानमें थोड़ा थोड़ा निकला हुआ ( अङ्कुर ) न जाने क्या दिखायी दे रहा है? राजविरुद्ध चर्चाकी भाँति इस बातको भी एक पथिक दूसरेसे अत्यन्त शङ्कित होकर कहता है ॥ ९६ ॥

धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति।
णिद् च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥ ९७ ॥
[ धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते।
निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥ ]

जो प्रियको स्वप्नमें भी देखलेती है, वेही नारी धन्य हैं; उनके विरहमें मुझे निद्रा ही नहीं आती, स्वप्न कौन देखे? ॥ ९७ ॥

परिरम्भकणअकुण्डलत्थलमणहरेसु सवणेसु।
अण्णसमअंवसेण अ पहिरिज्जइ तालवेण्टजुअं ॥ ९८ ॥
[ परिरम्भकनककुण्डलगण्डस्थलमनोहरयोः श्रवणयोः।
अन्यसमयवशेन च परिध्रियते तालवृन्तयुगम् ॥ ]

कनक कुण्डलचुम्बित गण्डस्थलमें शोभित कर्णद्वयमें कालान्तरवश तालपत्रनिर्मित कर्णाभूषणयुगल भी धारण होता है ॥ ९८ ॥

मज्झह्नपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं।
हिअअट्ठिअजाआमुहमिअङ्कजोह्राजलप्पवहो ॥ ९९ ॥
[ मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति संतापम्।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥ ]

अपने हृदयस्थित जायाके मुखचन्द्रकी ज्योत्स्ना-जलप्रवाह, ग्रीष्ममें मध्याह्नके समय पथमें चलेहुए पथिकका सन्ताप दूरकर देता है ॥ ९९ ॥

मण्णो ण रस्सइ जणो पत्थिअन्तो अपत्तकालम्मि।
रतिवासअडा रमन्तं पिअं वि पुत्त सवइ माआ ॥ १०० ॥

[ भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।
रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥ ]

अनुपयुक्त स्थान एवं असमयमें अनुनीत होनेपर कौन रुष्ट नहीं होता, बताओ तो? रतिनिरत माताभी प्रियपुत्रके रोनेपर अभिशाप देती है ॥ १०० ॥

एत्थ चउत्थं विरमइ गाहाणँ सअं सहावरमणिज्जं ।
सोऊण जं ण लग्गइ हिअए महुरत्तणेण अमिअं पि ॥ १०१ ॥
[ अत्र चतुर्थं विरमति गाथानां शतं स्वभावरमणीयम् ।
श्रुत्वा यन्न लगति हृदये मधुरत्वेनामृतमपि ॥ ]

स्वभावरमणीय गाथा समूहका चतुर्थ शतक यहीं समाप्त हो गया जिसे सुननेपर हृदयको अमृत भी उतना मधुर नहीं लगता ॥ १०१ ॥

# पञ्चम शतक

उज्झसि उज्झसु कट्टसि कट्टसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सोहु मए गलिअसब्भावो ॥ १ ॥
[ दह्यसे दह्यस्व क्वथ्यसे क्वथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तास्फुट ।
तथापि परिशेषित एव सः खलु मया गलितसद्भावः ॥ ]

अरे हृदय, दग्ध होना हो तो हो जाओ, क्वथित या पक्व होना हो तो हो जाओ, किन्तु तब भी उसे मैंने स्नेह या सद्भाव विगलित ही निर्धारित किया है ॥ १ ॥

दट्ठुण रुन्दतुण्डग्गणिग्गअं णिअसुअस्स दाढग्गं ।
भोण्डी विणावि कज्जेण गामणिअडे जवे चरइ ॥ २ ॥
[ दृष्ट्वा विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंष्ट्राग्रम् ।
सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥ ]

अपने पुत्रके विशाल मुखाग्रसे निकले हुए दाढ़ोंको देखकर सूकरी बिना किसी कामके गाँवके निकटस्थ यवके खेतोंमें विचरण कर रही है ॥ २ ॥

हेलाकरग्गअड्ढिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो ।
जअइ अणिग्गअवडवग्गि भरिअगअणो गणाहिवई ॥ ३ ॥
[ हेलाकराग्राकृष्टजलरिक्तं सागरं प्रकाशयन् ।
जयत्यनिग्रहवडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥ ]

शुण्डद्वारा अवज्ञापूर्वक जलपान किये जानेपर रिक्त या शून्य सागरको प्रकाशित कर निग्रहसमर्थ गणाधिपति अनिगृहीत वड़वानल द्वारा गगनमण्डलको परिपूर्ण करते-करते जययुक्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

एएण च्चिअ कंकेल्लि तुज्झ तं णत्थि जं ण पज्जत्तं ।
उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणी हत्थो ॥ ४ ॥
[ एतेनैव कङ्केल्ले तव तन्नास्ति यन्न पर्याप्तम् ।
उपमीयते यत्तव पल्लवेन वरकामिनीहस्तः ॥ ]

हे अशोकवृक्ष, तुम्हारे पल्लवकेसाथ सुन्दरी कामिनीका हाथ उपमित होता है, इससे प्रतीत होता है कि तुम्हारे पास वह है ही नहीं जो पूर्ण न हो ॥

रसिअविअड्ढ विलासिअ समअण्णुअ सच्चअं असोओ सि ।
वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सण्हं ॥ ५ ॥
[ रसिक विदग्ध विलासिन्समयज्ञ सत्यमशोकोऽसि ।
वरयुवतिचरणकमलाहतोऽपि यद्विकससि सतृष्णम् ॥ ]

हे रसिक, हे विदग्ध, हे विलासी, हे अनुकूलसमयज्ञ वृक्ष, वास्तवमें तुम अशोक अथवा शोकरहित हो, कारण, श्रेष्ठ युवतीके चरणकमल द्वारा आहत होनेपर भी तुम सतृष्ण भावसे विकसित होते हो अर्थात् देखते रहते हो ॥ ५ ॥

वलिणो वाआवन्धे चोज्जं णिउअत्तणं च पअडन्तो ।
सुरसत्थकआणन्दो वामणरुवो हरी जअइ ॥ ६ ॥
[ बलेर्वाचाबन्धे आश्चर्यं निपुणत्वं च प्रकटयन् ।
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥ ]

बलशाली द्वाररक्षकोंके वाक्यप्रबंध अर्थात् निरुत्तरीकरणके विषयमें आश्चर्य, गुण एवं निपुणता है—इसे समझकर प्रकट करते-करते सुरससंपन्न वचनप्रयोगद्वारा सबको आनन्दित कर विनीत अथवा पराभूत परद्वारापहारी विजयी हो। बलिराजा के वाक्प्रयोग के नियमनके पक्षमें—अपनी अद्भुत क्रिया एवं नैपुण्यका भाव प्रकाशित करते करते देवसब को आनन्दित करनेवाले वामनरूपी विष्णु विजयी हों ॥ ६ ॥

विज्झाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ चित्थअसिहो वि ।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिसिरङ्गीए ॥ ७ ॥
[ निर्वाप्यते ज्वलनो गृहपतिदुहित्रा विस्तृतशिखोऽपि ।
अनुमरणघनालिङ्गनप्रियतमसुखस्वेदशीताङ्ग्या ॥ ]

सती होनेके लिए चितापर बैठी गृहपतिकी दुहिता अनुमरणके समय प्रियतमके गाढालिङ्गनजनित सुखसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंके कारण शीतलाङ्गिनी हो विस्तृतशिखाग्निको भी बुझा रही है ॥ ७ ॥

जारमसाणसमुब्भवभूइसुहप्फंससिज्जिरङ्गीए ।
ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ८ ॥
[ जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशीलाङ्ग्याः ।
न समाप्यते नवकापालिक्या उद्धूलनारम्भः ॥ ]

जारके श्मशानसमुद्भूत भस्मद्वारा अनुलिप्त होनेके सुख द्वारा उत्पन्न

स्वेदप्रमुद्गमसे दीपलाङ्गिनी नखदागालिखमरयारिणी रमणी स्वेदनिवारणके लिए आत्मानुलेपन कार्यको समाप्त नहीं कर पा रही है ॥ ८ ॥

एक्को पण्हुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥
[ एकः प्रस्नौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखाभिलिखितः ।
पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥ ]

पुत्र एवं प्रियतमके बीच बैठनेके कारण गृहिणीका एक स्तन दुग्धपान कर रहा है और दूसरा स्तन पतिप्रेममें नखाग्रसे चिह्नित हो पुलकित हो रहा है ॥ ९ ॥

पत्ताहत्थिअ मोहं जणेइ बालत्तणे वि वट्टन्ती ।
गामणिधूआ विसकन्दलिव्व वड्ढीआ काहिइ अणत्थं ॥ १० ॥
[ पृणाग्रत्येव मोहं जनयति बाल्येऽपि वर्तमाना ।
ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥ ]

बाल्यकाली अवस्थामें इस प्रकार वर्तमान रहकर भी ग्रामपतिकी दुहिता मोह उत्पन्न कर रही है, विषकन्दली अर्थात् विषवृक्षकी भाँति वर्द्धित होकर अनर्थ ही करायेगी ॥ १० ॥

अपहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहसंठिअं चिरं हरिणो ।
तारापुप्फप्पअरञ्चिअं च तइअं पअं णमह ॥ ११ ॥
[ अप्रभवन्महीमण्डले नभःसंस्थितः चिरं हरेः ।
तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥ ]

महिमण्डलमें अपरिमित होनेके कारण बहुत देरतक नभोमण्डलमें संस्थित ताराख्य पुष्पराशि द्वारा संपूजित त्रिविक्रम विष्णुके तृतीय चरणको नमस्कार करो। [ गुप्तव्यापारमें अंतर्मुखा वधूमाके प्रश्नके उत्तरमें नायिका रात्रिमें उपयुक्त त्रैविक्रमचन्द्रपाव्य रमणकलाके विषयमें दूसरेके बहानेसे बताती है ॥ ]

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहीओ कीस मं भणह ।
सेहालिआणँ गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ॥ १२ ॥
[ सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ ।
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्तुं स्वपित यूयम् ॥ ]

सखियो, तुम मुझसे यह क्यों कह रही हो कि "तीसरा याम भी बीत गया, तुम सोओ" शेफालिकाकी गन्ध मुझे सोने नहीं दे रही है, तुम सब सो जाओ ॥

कँह सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआइँ अङ्गाइं।
णिव्वत्तिए वि सुरए णिज्झाअइ सुरअरसिओव्व ॥ १३ ॥
[ कथं स न संस्मर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि ।
निवर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥ ]

जो व्यक्ति सुरतरसिकके समान, सुरतक्रियाके समाप्त होनेपर भी मेरे अङ्गोंको तथासंस्थित समझकर उनके प्रति आँख गडाये रखता है, उसे कैसे स्मरण न करूँ ? ॥ १३ ॥

सुक्खन्तबहलकद्दमघम्मखिसूरन्तकमठपाठीणं।
दिट्ठं अदिट्ठपुव्वं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥
[ शुष्यद्बहलकर्दमघर्मखिद्यमानकमठपाठीनम् ।
दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥

ग्रीष्मकाल तड़ागके उस अदृष्टपूर्व तलदेशको देख पाता है जिससे गहरा कीचड़ सूखता जा रहा है एवं जिसमें तापके कारण सभी कछुए एवं पाठीनमत्स्य सभी कष्ट पा रहे हैं ॥ १४ ॥

चोरिअरअसद्धालुइ मा पुत्ति भमसु अन्धआरम्मि।
अहिअअरं लक्खिज्जसि तमभरिए दीवसीहव्व ॥ १५ ॥
[ चौर्यरतश्रद्धाशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे ।
अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभृते दीपशिखेव ॥ ]

हे चौर्यरतिमें आस्थावती पुत्रि, अन्धकारमें मत घूमना, तमसाच्छन्न प्रदेशमें दीपशिखाकी नाईं शरीरलावण्यवश अधिकतर दिखायी दे जाओगी ॥

घाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कस्स।
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे ॥ १६ ॥
[ व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्य ।
असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥

नदीकच्छके जल जानेसे जिज्ञासा करनेपर भी असती कोई उत्तर नहीं दे रही है एवं कार्यव्यतिरेकसे भी अकारण किसी किसीके ऊपर रुष्ट हो रही है ॥

आम असइ ह्म ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअं गोत्तं।
किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १७ ॥
[ आम असत्यो वयमपसर पतिव्रते न तव मलिनितं गोत्रम् ।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावन्न कामयामहे ॥ ]

ठीक है, हमलोग क्या हुआ असती ही हैं। हे पतिमते, तुम हट जाओ। तुम्हारा गोत्र अर्थात् नाम वा कुल मलिन नहीं हुआ है; तब भी किसी व्यक्तिके जायाकी भाँति हमलोगोंने कभी नाईकी कामना नहीं की है ॥ १७ ॥

णिद्दं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति।
जाहिँ ण दिट्ठो सि तुमं ताओ च्चिअ सुहअ सुहिआओ ॥ १८ ॥

[ निद्रां लभन्ते कथितं शृण्वन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति।
याभिर्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग सुखिताः ॥ ]

हे सुभग, जिन रमणियोंने तुम्हें देखा नहीं है, वे ही सुखी हैं। कारण वे सो सकती हैं, दूसरोंकी बातें सुन सकती हैं, एवं उन्हें अक्षरस्खलनके साथ बातचीत नहीं करनी पड़ती ॥ १८ ॥

बालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण बोरसङ्घाडिं।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥ १९ ॥

[ बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बदरसङ्घाटीम्।
लज्जालुरपि वधूर्गृहं गता ग्रामरथ्यया ॥ ]

हे बालक, लज्जाशील होनेपर भी वधू तुम्हारे दिये हुए बेरगुच्छको कानमें धारण कर गाँवके पथसे घर चली गई ॥ १९ ॥

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाएँ अगहिआणुणओ।
परवज्जणच्चरीहिँ तुम्हेहिँ उवेक्खिओ णेन्तो ॥ २० ॥

[ अथ स विलक्षहृदयो मया अभव्यया अगृहीतानुनयः।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन् ॥ ]

अरे, मैंने अशिष्ट होकर उसका अनुनय स्वीकार नहीं किया, इससे विधुर-हृदय हो वह क्या घरसे निकलते समय तुमलोगों द्वारा उपेक्षित हुआ है? कारण, तुम्हारा काम ही है बाजा बजाकर दूसरोंको नचा डालना ॥ २० ॥

दीसन्तो णअणसुहो णिव्वुइजणओ करेहिँ वि छिवन्तो।
अब्भत्थिओ ण लब्भइ चन्दो व्व पिओ कलाणिलओ ॥ २१ ॥

[ दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यां [ अपि ] स्पृशन्।
अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्र इव प्रियः कलानिलयः ॥ ]

दृष्टिपथमें आनेपर नयनके सुखका उत्पादक, कर अथवा किरन द्वारा संस्पर्श

कहँ सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआइँ अङ्गाइं।
णिव्वत्तिए वि सुरए णिज्झाअइ सुरअरसिओव्व ॥ १३ ॥
[ कथं स न संस्मर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि।
निवर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥ ]

जो व्यक्ति सुरतरसिकके समान, सुरतक्रियाके समाप्त होनेपर भी मेरे अङ्गोंको तथासंस्थित समझकर उनके प्रति आँख गड़ाये रखता है, उसे कैसे स्मरण न करूँ? ॥ १३ ॥

सुक्खन्तबहलकद्दम्मघम्म विसूरन्तकमठपाठीणं।
दिट्ठं अदिट्ठउव्वं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥
[ शुष्यद्बहलकर्दमघर्मखिद्यमानकमठपाठीनम्।
दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥

ग्रीष्मकाल तड़ागके उस अदृष्टपूर्व तलदेशको देख पाता है जिससे गहरा कीचड़ सूखता जा रहा है एवं जिसमें तापके कारण सभी कछुए एवं पाठीनमत्स्य सभी कष्ट पा रहे हैं ॥ १४ ॥

चोरिअरअसद्धालुइ मा पुत्ति भमसु अन्धआरम्मि।
अहिअअरं लक्खिज्जसि तमभरिए दीवसीहव्व ॥ १५ ॥
[ चौर्यरतश्रद्धाशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे।
अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभृते दीपशिखेव ॥ ]

हे चौर्यरतिमें आस्थावान् पुत्रि, अन्धकारमें मत घूमना, तमसाच्छन्न प्रदेशमें दीपशिखाकी नाईं शरीरलावण्यवश अधिकतर दिखायी दे जाओगी ॥

वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कस्स।
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे ॥ १६ ॥
[ व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्य।
असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥

नदीकच्छके जलजानेसे जिज्ञासा करनेपर भी असती कोई उत्तर नहीं रही है एवं कार्यव्यतिरेकसे भी अकारण किसी-किसीके ऊपर रुष्ट हो रही है

आम असइ म्ह ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअङ्गोत्तं।
किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १

[ आम असत्यो वयमपसर पतिव्रते न तव मलिनितं गोत्रम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव ना

[ मालतीकुसुमानि दग्ध्वा मा जानीहि निर्वृतः शिशिरः ।
कर्तव्याद्यापि निर्गुणानां कुन्दानामपि समृद्धिः ॥ ]

ऐसा मत समझना कि केवल सगुण मालतीकुसुमके समूहको जलाकर शिशिर सन्तुष्ट हो गया है, अभी भी निर्गुण कुन्दपुष्पसमूहकी समृद्धिको घटाना उसके लिए शेष है ॥ २६ ॥

तुङ्गाणँ विसेसनिरन्तराणँ [सरस] वणलद्धसोहाणं ।
कअकज्जाणँ भडाणँ व थणाण पडणं वि रमणिज्जं ॥ २७ ॥
[ तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयोः [ सरस ] व्रणलब्धशोभयोः ।
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम् ॥ ]

स्नानादि द्वारा उन्नत, विशेष निरन्तर अथवा समकक्षप्राय एवं युद्धादिमें प्राप्त सरसव्रणविशिष्ट होनेके कारण अत्यन्त शोभित, विजयी योद्धाद्वयके समान उन्नत, अन्योन्यसलग्न एव सरसव्रणविशिष्ट अर्थात् रतिसमरमें नखादि चिह्नयुक्त होनेके कारण अत्यन्त शोभित कृतकृत्य स्तनद्वयका लटक जाना भी रमणीय है ॥ २७ ॥

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा ।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लगन्ति ॥ २८ ॥
[ परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति ॥ ]

मर्दनमें सुखकर, स्थूल, रन्ध्रशून्य एव सुलक्षणाक्रान्त आभरणसे शोभित स्तन—विचारसुखकर, अर्थगुरु, दोषरहित एवं सुलक्षणविशिष्ट अलङ्कारसे सुशोभित काव्यालापके समान—किसके हृदयमें नहीं भाते ? ॥ २८ ॥

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे ।
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले ॥ २९ ॥
[ क्षिप्यते हारः स्तनमण्डलात्तरुणीभी रमणपरिरम्भे ।
अर्चितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं काले ॥ ]

रमणकालके आलिङ्गनमें तरुणी स्तनमण्डलसे हारको हटा रखती है, अवसर उपस्थित होनेपर अर्चितगुणवाले गुणीगण भी लघुत्व प्राप्त करते हैं। अर्थात् छोटे समझे जाते हैं ॥ २९ ॥

अण्णो को वि सुहाओ मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणँ झत्ति पज्जलइ ॥ ३० ॥

करनेपर संतापहर, कलागृहतुल्य अर्थात् षोडशकलात्मक मेरा प्रिय गगनोद्गत चन्द्रकी भाँति प्रार्थित होकर भी दुष्प्राप्य है ॥ २१ ॥

जे णीलब्भमरभरग्गगोछआ आसि णइअडुच्छङ्गे ।
कालेण वञ्जुला पिअवअस्स ते थण्णुआ जाआ ॥ २२ ॥
[ ये नीलभ्रमरभरभग्नगुच्छका आसन्नदीतटोत्सगे ।
कालेन वञ्जुला• प्रियवयस्य ते स्थाणवो जाता ॥ ]

हे प्रियवयस्य, नदीके किनारे जो वञ्जुल अर्थात् बेंत लतासमूह नीलभ्रमरके भारसे टूटे पड़ते थे, वे कालके प्रभावसे शाखाहीन वृक्ष के समान प्रतीत हो रहे हैं ॥ २२ ॥

खणभङ्गुरेण पेम्मेण माउआ दुम्मिअम्ह एत्ताहे ।
सिविणअणिहिलम्भेण व दिट्ठपणट्ठेण लोअम्मि ॥ २३ ॥
[ क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृष्वस दूना• स्म इदानीम् ।
स्वप्ननिधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोके ॥ ]

अरी मौसी, स्वप्नमें प्राप्त दृष्टनष्ट निधिकी भाँति क्षणभङ्गुरप्रेमसे मैं अब संसारमें अत्यन्त दुःख भोग रही हूँ ॥ २३ ॥

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।
वङ्कस्स उज्जुअस्स अ संबन्धो किं चिरं होई ॥ २४ ॥
[ चाप• स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।
वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥ ]

धनुषकी डोरीके ऊपर संस्थापित स्वभाव सरल बाणको दूर फेंके, वक्र एवं अवक्र इन दोनोंका सम्बन्ध क्या कभी चिरस्थायी हो सकता है ? ॥ २४ ॥

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व वलिबन्धो ॥ २५ ॥
[ प्रथमं वामनविधिना पश्चात्खलु कृतो विजृम्भमाणेन ।
स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव बलिबन्धः ॥ ]

रमणीके ये दोनों स्तन मधुसूदन विष्णुकी भाँति पहले वामनरूप थे, बादमें सम्पूर्ण विकसित होकर बलिबन्ध ( त्वचबलयबन्धन एवं विष्णुकेलिए बलिदैत्यका बन्धन ) करनेमें समर्थ हुए हैं ॥ २५ ॥

मालइकुसुमाइँ कुलुञ्चिऊण मा जाणि णिव्वुओ सिसिरो ।
काअव्वा अज्जवि णिग्गुणाणँ कुन्दाणँ वि समिद्धी ॥ २६ ॥

[ वर्षाकाले उन्नतपयोधरे यौवन इव व्यतिक्रान्ते ।
प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरण्याः ॥ ]

उन्नतपयोधर ( स्तन ) युक्त यौवनकी नाईं उन्नतपयोधर ( मेघ ) विशिष्ट वर्षाकी रातके बीत जानेपर, धरणीके पके हुए बालकी भाँति एक काश-कुसुम पहले दिखायी पड़ा ॥ ३४ ॥

कत्थं गअं रइबिम्बं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ ।
गअणे बलाअपन्ति कालो होरं व कड्ढेइ ॥ ३५ ॥
[ कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रतारकाः ।
गगने बलाकापंक्ति कालो होरामिवाकर्षति ॥ ]

दिनमें सूर्यबिम्ब कहाँ खो गया? रात्रिमें चन्द्र और तारे कहाँ भाग गए? ज्योतिर्विदोंकी ग्रहगणनार्थ रेखाचिह्नकी भाँति वर्षाकालीन आकाशको बलाकापंक्ति अङ्कित कर रही है ॥ ३५ ॥

अविरलपडन्तणवजलधाराज्जुघडिअं पअत्तेण ।
अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह ॥ ३६ ॥
[ अविरलपतन्नवजलधारारज्जुघटितां प्रयत्नेन ।
अप्रभवन्नुत्क्षेप्तुं रसतीव मेघो महीं पश्यत ॥ ]

देखो, अविरल स्खलित नवजलधारारूप रज्जुसे आबद्ध महीको ऊपर न खींच सकनेके कारण, मेघ मानो शब्द कर रहा है ॥ ३६ ॥

ओ हिअअ ओहिदिअहं तइआ पडिवज्जिऊण दइअस्स ।
अत्थेक्काउल वीसम्भघाइ किं तइ समारद्धं ॥ ३७ ॥
[ हे हृदय अवधिदिवसं तदा प्रतिपद्य दयितस्य ।
अकस्मादाकुल विश्रम्भघातिन् किं त्वया समारब्धम् ॥ ]

अरे हृदय, उस समय प्रियके प्रवास-अवधिको स्वीकार कर अकस्मात् आकुल हो विश्वासघातीकी भाँति तुमने क्या करना प्रारम्भ किया है? ॥ ३७ ॥

जो वि ण आणइ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण वलआइँ ।
अइउज्जुआ वराई अह व पिओ से हआसाए ॥ ३८ ॥
[ योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्नानि तेन वलयानि ।
अतिऋजुका वराकी अथवा प्रियस्तस्या हताशायाः ॥ ]

जो नहीं जानते, उनसे कहती है, "मेरा वलय उसके द्वारा तोड़ा गया

[ अन्यः कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनो दृष्ट हताशस्य ।
निर्वाति नीरसानां हृदये सरसानां झटिति प्रज्वलति ॥ ]

अरे, हताश ( दग्ध ) मदनाग्निका स्वभाव साधारण अग्निसे विलक्षण है। निरस हृदयमें यह बुझजाती है, किन्तु सरस हृदयमें तुरत धधक उठती है ॥ ३० ॥

तह तस्स माणपरिवड्ढिअस्स चिरपरणअवद्धमूलस्स ।
मामि पडन्तस्स सुओ सद्दो विण पेम्मरुक्खस्स ॥ ३१ ॥

[ तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।
मातुलानि पततः श्रुतः शब्दोऽपि न प्रेमवृक्षस्य ॥ ]

हे मामी, जो प्रेमतरु इतने मान-सम्मानसे बड़ा हुआ था एवं जिसकी जड़ चिरप्रणयमें आबद्ध थी, उसके पतनके समय कोई आवाज ही नहीं सुनायी पड़ी ॥ ३१ ॥

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ३२ ॥

[ पादपतितो न गणितः प्रियं भणन्नप्यप्रियं भणितः ।
व्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः ॥ ]

नायकके पैरपर गिरनेपर भी तुमने उसे समझा नहीं, उसके द्वारा मीठी बातें कही जानेपर भी तुमने तीखी बातें सुनायीं, उसके चले जाने पर भी तुमने रोका नहीं। बताओ तो, किसकेलिए मानकररही हो ? ॥ ३२ ॥

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती ।
मुद्धवहूथणवट्ठे दिण्णं दइएण णहरपअं ॥ ३३ ॥

[ प्रोञ्छति क्षणं क्षालयति क्षणं प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती ।
मुग्धवधूः स्तनपट्टे दत्तं दयितेन नखरपदम् ॥ ]

समझ न सकनेके कारण, स्तनपृष्ठपर प्रियतमप्रदत्त नखचिह्नको मुग्ध-वधू एक क्षण पोंछ रही है, एकक्षण धोरही है एवं उसी क्षण वस्त्रादि द्वारा झाड़ डाल रही है ॥ ३३ ॥

वासरत्ते उण्णअपओहरे ओव्वणे व्व वोलीणे ।
पढमेक्ककासकुसुमं दीसइ पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥

[ कुरुनाथ इव पथिको दूयते माधवस्य मिलितेन ।
भीमेन यथेच्छया दक्षिणवातेन स्पृश्यमानः ॥ ]

माधवसे मिलकर यदृच्छाक्रमसे भीमसेनने दक्षिण चरणद्वारा स्पर्शकर दुर्योधनको जिस प्रकार दुःखित किया था, माधव (वसन्त) से मिलकर भयानक दक्षिणपवन भी यदृच्छाक्रमसे स्पर्शकर पथिकको उसी प्रकार दुःखित कर रही है ॥ ४३ ॥

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ४४ ॥
[ यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका ।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥ ]

जबतक मालतीकलिका-कोष कुछ खुल नहीं जाता, तबतक हे रसपानलोलुप भौंरे, तुम मर्दनमात्रसे ही संतोष प्राप्तकर रहे हो ॥ ४४ ॥

अकअण्णुअ तुज्झ कए पाउसराईसु जं मए खुण्णं ।
उप्पेक्खामि अलज्जिर अज्ज वि तं गामचिक्खिल्लं ॥ ४५ ॥
[ अकृतज्ञ तव कृते प्रावृड्रात्रिषु यो मया क्षुण्णः ।
उत्पश्याम्यलज्जाशील अद्यापि तं ग्रामपङ्कम् ॥ ]

ओ अकृतज्ञ, बरसातकी रातमें भी तेरे लिए मैंने जिस ग्रामपङ्कको सर्व किया है, अरे निर्लज्ज, उसी पङ्कको मैं आज भी देख रही हूँ ॥ ४५ ॥

रेहइगलन्तकेसक्खलन्तकुण्डलललन्तहारलआ ।
अद्धुप्पइआ विज्जाहरि व्व पुरुसाइरी बाला ॥ ४६ ॥
[ राजते गलत्केशस्खलत्कुण्डलललद्धारलता ।
अर्धोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ॥ ]

अर्द्धपतिता विद्याधरीकी भाँति इस बालाके पुरुषोचित रमणमें निरत होनेसे खुलते हुए केश, गिरते हुए कुण्डल एवं हलते हुए हारलता शोभित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

जइ भमसि भमसु एमेअ कण्ह सोहग्गगव्विरो गोट्ठे ।
महिलाणं दोसगुणे विआरक्खमो अज्ज विण होसि ॥ ४७ ॥
[ यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्ठे ।
महिलानां दोषगुणौ विचारक्षमोऽद्यापि न भवसि ॥ ]

है।" हो सकता है कि वह शोचनीया रमणी ही अत्यन्त सरलस्वभाववाली हो, अथवा उस हताश रमणीका प्रिय ही सरल स्वभाववाला है ॥ ३८ ॥

सामाइ गरुअजोव्वणविसेसभरिए कवोलमूलम्मि।
पिज्जइ अहोमुहेण व कण्णवअंसेण लावण्णं ॥ ३९ ॥
[ श्यामाया गुरुकयौवनविशेषभृते कपोलमूले।
पीयतेऽधोमुखेनेव कर्णावतंसेन लावण्यम् ॥ ]

श्यामा नायिकाके विशाल एवं विशेष यौवनसे भरे कपोलके मूलपर अधोमुख होकर कर्णाभरण मानो लावण्यपान कर रहा है ॥ ३९ ॥

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स।
दूइं पट्ठाअन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ४० ॥
[ स्वेदार्द्रीकृतसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य।
दूतीं प्रस्थापयन्ती (सन्दिशन्ती वा) तस्यैव गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥ ]

उस सुभगका नाम ही लेनेपर अपने सारे अङ्गोंको स्वेदार्द्र कर दूतीको नायकके पास भेजनेका प्रबन्ध करते करते वह स्वयं ही उसके गृहप्राङ्गणमें उपस्थित हुई ॥ ४० ॥

जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मअण तुज्झ अच्चिस्सं।
जइ तं पि तेण वाणेण विज्झसे जेण हं विद्धा ॥ ४१ ॥
[ जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन तवार्चयिष्यामि।
यदि तमपि तेन बाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा ॥ ]

अरे कामदेव, जिस बाणद्वारा तुम मुझे विद्ध कर रहे हो, उसीके द्वारा यदि उसे भी विद्ध करो तो जन्मान्तरमें भी मैं तुम्हारे चरणोंकी पूजा करूँगी ॥

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥ ४२ ॥
[ निजपक्षारोपितदेहभारनिपुणं रसं लिहता।
विकास्य पीयते मालती कलिका मधुकरेण ॥ ]

अपने दोनों पङ्खोंपर देहका भार डालकर अत्यन्त निपुणभावसे रसास्वादन पूर्वक, भौंरा मालतीकी कलिकाको विकसित कर पान कर रहा है ॥ ४२ ॥

कुरुणाहो व्विअ पडिओ दूमिज्जइ माहवस्स मिलिएण।
भीमेण जहिच्छिआए दाहिणवाएण छिप्पन्तो ॥ ४३ ॥

हृदयसे जो वचन निकलते हैं, वे अन्य प्रकारके होते हैं। पाससे हट जाओ। इन सब कपट वचनोंसे क्या प्रयोजन ? ॥ ५१ ॥

कहँ सा सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि ।
जीअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जए मज्झ ॥ ५२ ॥
[ कथं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्घृण त्वयि ।
यस्या ह्रियते नाम हृत्वा च दीयते मह्यम् ॥ ]

अरे निर्दय, मेरी तुलनामें वह रमणी तुम्हारे सम्बन्धमें अधिक सौभाग्य गुण कैसे वहन करती है ? कारण, उसका नाम ( गोत्र ) तुम्हारे द्वारा चुराया जाकर मेरे प्रति प्रयुक्त किया जा रहा है ॥ ५२ ॥

सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं ।
वड्ढन्ति करठिआ च्चिअ वलआ दइए पउट्ठम्मि ॥ ५३ ॥
[ सखि कथय सद्भावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम् ।
वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥ ]

सखी, बोलो तो—सद्भावना सहित पूछती हूँ—क्या प्रियके प्रवास जानेपर सभी महिलाओंके हाथके वलय बढ़ जाते हैं अर्थात् ढीले पड़ जाते हैं ॥ ५३ ॥

भमइ पलित्तइ जूरइ उक्खिविउं से करं पसारेइ ।
करिणो पङ्कक्खुत्तस्स णेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५४ ॥
[ भ्रमति परितः खिद्यते उत्क्षेप्तुं तस्य करं प्रसारयति ।
करिणः पङ्कनिमग्नस्य स्नेहनिगडिता करिणी ॥ ]

पङ्कमें गिरो हुई हाथोकी स्नेहशृङ्खलासे जकड़ी हुई, हथिनी, हाथीके चारों ओर घूम रही है, खेद अनुभव कर रही है एवं उसे उठानेकेलिए अपना सूँड़ फैला रही है ॥ ५४ ॥

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिउम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥
[ रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ ]

जिस रुद्रने रतिकेलिके समय पार्वतीका वस्त्रापहरण कर लिया था एवं जिसके नयनयुगल करकिसलय द्वारा मूँद दिये गए थे उसी रुद्रका पार्वती चुम्बित तृतीयनेत्र विजयी हो ॥ ५५ ॥

हे कृष्ण, सौभाग्यगर्वसे गर्वित होकर यदि गोष्ठमें भ्रमण करना हो तो भ्रमण करो, ( किन्तु इतना करनेपर भी ) तुम यदि महिलाओंके दोष-गुण देखनेमें समर्थ हो सको अर्थात् नहीं हो सकोगे ॥ ४७ ॥

संझासमए जलपूरिअजलिं विहडिएक्कवामअरं।
गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहाहिवं णमह ॥ ४८ ॥

[ सन्ध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम्।
गौर्यै कोषपानोद्यतमिव प्रमथाधिपं नमत ॥ ]

सन्ध्याके समय गौरीको प्रसादित करनेके लिए जलपूरित अञ्जलि बाँधकर बाँये करको अलगकर शपथके लिए कोषपानमें उद्यत प्रमथाधिपति ( शिव ) को नमस्कार करो ॥ ४८ ॥

गामणिणो सव्वासु वि पिआसु अणुमरणगहिअवेसासु।
मम्मच्छेएसु वि वल्लहाइ उवरीं वलइ दिट्ठी ॥ ४९ ॥

[ ग्रामण्यः सर्वास्वपि प्रियास्वनुमरणगृहीतवेषासु।
मर्मच्छेदेष्वपि वल्लभाया उपरि वलते दृष्टिः ॥ ]

मृत्यु के समय ग्रामनायककी सारी प्रियाएँ अनुमरणवेषधारी होकर भी, उस मर्मच्छेदविधायक दशामें भी उसकी दृष्टि अत्यन्त वल्लभा प्रियाके ऊपर चढ़ जाती है ॥ ४९ ॥

मामि सरसक्खराणँ वि अत्थि विसेसो पअम्पिअव्वाणं।
णेहमइआणँ अण्णो अण्णो उवरोहमइआणं ॥ ५० ॥

[ मातुलानि सरसाक्षराणामप्यस्ति विशेषः प्रजल्पितव्यानाम्।
स्नेहमयानामन्योन्य उपरोधमयानाम् ॥ ]

हे मामी, वाक्यावलीमें समान अक्षरका प्रयोग होनेपर भी वैशिष्ट्य लक्षित होता है, कारण, स्नेहमय वचनका वैशिष्ट्य एक प्रकारका होता है और अनुरोधार्थ व्यवहृत वचनका वैशिष्ट्य दूसरे प्रकारका होता है ॥ ५० ॥

हिअआहिन्तो पसरन्ति जाइँ अण्णाइँ ताइँ वअणाइं।
ओसरसु किं इमेहिं अहरुत्तरमेत्तभणिएहिं ॥ ५१ ॥

[ हृदयेभ्यः प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि।
अपसर किमेभिरधरोत्तरमात्रभणितैः ॥ ]

देखो, गोष्ठमें दुष्ट वृषभके सींगमें अपने वत्सको रखकर गाय सौभाग्य प्रकट कर रही है ॥ ६० ॥

उअ संभमविक्खित्तं रमिअव्वपलोहलाएँ असईए ।
णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥
[ पश्य संभ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यलोलुपया असत्या ।
नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥ ]

रमणलम्पटा असतीद्वारा कुञ्जमें, अविनयके ध्वजपट रूपमें प्रदत्त संभ्रम-विक्षिप्त कौसुम्भवस्त्रको देखो ॥ ६१ ॥

हत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पण्हअइ दोहअगुणेण ।
अवलोअणपण्हुइरिं पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिसि ॥ ६२ ॥
[ हस्तस्पर्शेन जरद्गव्यपि प्रस्नौति दोहदगुणेन ।
अवलोकनप्रस्नवनशीलां पुत्रक पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥ ]

अरे बेटे, दोहदके ( दूध देनेवालेके ) गुणवश हस्तस्पर्शमात्रसे अकर्मण्य वृद्धा भी दुग्धपात करती है, किन्तु देखने मात्रसे प्रस्रवणशीला ( अनुरक्ता रमणी ) को तुम अपने सुकृतोंके बलसे ही पा सकोगे ॥ ६२ ॥

मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं ।
णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिं ॥ ६३ ॥
[ मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम् ।
नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपङ्क्तिम् ॥ ]

समतल स्थानपर चलते चलते यह रमणी मुँह क्यों बना रही है ? निश्चय ही उसकी मेखला ( करधनी ) जघनगत नखक्षतपङ्क्तिको छू ( रगड़ ) रही है ( उसी की व्यथा से मुँह बना रही है ) ॥ ६३ ॥

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥
[ संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥ ]

उस युवतीके चरणको तुम्हारे संवाहनकार्यद्वारा सुखरस पानेसे तुष्ट होकर तुम्हारे हाथमें 'लाक्षा' चिह्न प्रदान करनेसे मालूम पड़ता है कि इसने विक्रमादित्यके चरितका अनुसरण करना सीखा है ॥ ६४ ॥

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्ठीपहम्मि संठाइ ।
णवलइकरस्स तुह हलिआउत्त दे पहरसु वराइं ॥ ५६ ॥
[ धावति पुरतः पार्श्वयोर्भ्रमति दृष्टिपथे संतिष्ठते ।
नवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र हे प्रहरस्व वराकीम् ॥ ]

हे हलिकपुत्र, तुम्हारे हाथमें नवलतिका ले लेनेके कारण वह रमणी तुम्हारे निकट दौड़ रही है, तुम्हारे पास घूम रही है एवं तुम्हारे दृष्टिपथमें ही संस्थित रह रही है। तुम उस शोचनीयापर लतिका द्वारा प्रहार करो ॥ ५६ ॥

कित्तिमआणन्दवडं भामिज्जन्तं वहूअ सहिआहिं ।
पेच्छइ कुमरिजारो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं ॥ ५७ ॥
[ कृत्रिमानन्दपटं भ्राम्यमाणं वध्वाः सखीभिः ।
प्रेक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥ ]

कुमारीका जार सखियों द्वारा घुमाये जाते हुए वधूके कृत्रिम आनन्दपट (प्रथमपुष्पवतीका वस्त्र) को हँसीयुक्त नेत्रोंसे देख रहा है ॥ ५७ ॥

सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण ।
बन्धेइ धवलवणट्टअं व वणिअहरे तरुणी ॥ ५८ ॥
[ शनकैः शनकैर्ललिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।
बध्नाति धवलव्रणपट्टमिव व्रणिताधरे तरुणी ॥ ]

व्रणयुक्त अधरपर अँगुलीद्वारा शनैः शनैः मधूच्छिष्ट (मोम) लेपन करनेके बहाने तरुणी मानो व्रणपर श्वेत पट्टी बाँधे दे रही है ॥ ५८ ॥

रइविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअंसणाओं सहस व्व ।
ढक्कन्ति पिअअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥
[ रतिविरामलज्जिता अप्राप्तनिवसना सहसैव ।
आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥ ]

रमणके विरामके समय लज्जिता कुलवधुएँ सहसा वस्त्र न पाकर प्रियतमको आलिङ्गित ही कर अपने अङ्गोंको ढँकती है ॥ ५९ ॥

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्ठमज्झम्मि ।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अच्छिउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥
[ प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥ ]

देखो, गोष्ठमें दुष्ट वृषभके सींगमें अपने पल्लवको रगड़कर गाय सौभाग्य प्रकट कर रही है ॥ ६० ॥

उअ संभमविक्खित्तं रमिअव्वअलेहलाएँ असईए।
णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥

[ पश्य सम्भ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यकलापटया असत्या ।
नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥ ]

रमणलम्पटा असतीद्वारा कुञ्जमें, अविनयके ध्वजपट रूपमें प्रदत्त संभ्रम-विक्षिप्त कौसुम्भवस्त्रको देखो ॥ ६१ ॥

हत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पण्हअइ दोहअगुणेण।
अवलोअणपण्हुइरिं पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिसि ॥ ६२ ॥

[ हस्तस्पर्शेन जरद्गव्यपि प्रस्नौति दोहदगुणेन ।
अवलोकनप्रस्नवनशीलां पुत्रक पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥ ]

अरे बेटे, दोहदके ( दूध देनेवालेके ) गुणवश हस्तस्पर्शमात्रसे अकर्मण्य बूढ़ी भी दुग्धपात करती है, किन्तु देखने मात्रसे प्रस्रवणशीला ( अनुरक्ता रमणी ) को तुम अपने सुकृतोंके बलसे ही पा सकोगे ॥ ६२ ॥

मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं।
णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्तिं ॥ ६३ ॥

[ मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम् ।
नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपङ्क्तिम् ॥ ]

समतल स्थानपर चलते-चलते यह रमणी मुँह क्यों बना रही है? निश्चय ही उसकी मेखला ( करधनी ) जघनगत नखक्षतपंक्तिको छू ( रगड़ ) रही है ( उसी की व्यथा से मुँह बना रही है ) ॥ ६३ ॥

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥

[ संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥ ]

उस युवतीके चरणको तुम्हारे संवाहनकार्यद्वारा सुखरस पानेसे तुष्ट होकर तुम्हारे हाथमें 'लाक्षा' चिह्न प्रदान करनेसे मालूम पड़ता है कि इसने विक्रमादित्यके चरितका अनुसरण करना सीखा है ॥ ६४ ॥

पाअपडणाणँ मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणं।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणँ बहुआणं ॥ ६५ ॥
[ पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम्।
दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥ ]

हे मुग्धे, तुम प्रियके दर्शन मात्रसे प्रसन्न हो जाती हो , किन्तु, पादपतन, वेग एवं बलात्कारके साथ चुम्बनादि जनित बहु प्रकारके सुखसे भ्रष्ट या उससे वञ्चित हो जाती हो ॥ ६५ ॥

दे सुअणु पसिअ एण्हि पुणो वि सुलहाइं रूसिअव्वाइं।
एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई ॥ ६६ ॥
[ हे सुतनु प्रसीदेदानीं पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि।
एषा मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्ज्वला गलति क्षणरात्रिः ॥ ]

हे सुतनु, अब प्रसन्न होओ, किसी दूसरे समय रोष भाव फिर सुलभ होगा। हे मृगलोचने, चन्द्रोज्ज्वला उत्सव रजनी बीतती जा रही है ॥ ६६ ॥

आवण्णाइँ कुलाइं दो व्विअ जाणन्ति उण्णइं णेउं।
गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो ॥ ६७ ॥
[ आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उन्नतिं नेतुम्।
गौर्याहृदयदयितोऽथवा शालिवाहननरेन्द्रः ॥ ]

आपद्युक्त कुलकी ( पक्षान्तरमें आपर्णे अर्थात् अपर्णा पर्वतीय कुलकी ) उन्नति दो ही व्यक्ति कर सकते हैं, गौरीके हृदयवल्लभ या शालिवाहन वंशके नरपति ॥ ६७ ॥

णिक्कण्ड दुरारोहं पुत्तअ मा पाडलिं समारुहस्सु।
आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए ॥ ६८ ॥
[ निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समारोह।
आरूढनिपतिता के अनया न कृता हताशया ॥ ]

हे पुत्रक, शाखाविहीन आरोहण में कष्टसाध्य इस पाटलि ( पारुड ) पुष्पवृक्षपर मत चढ़ना। इस हताशा पाटलिने किसे चढ़ाकर गिरा नहीं दिया है ? ॥ ६८ ॥

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क व्विअ पाडला इहग्गामे।
बहुपाडलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं ॥ ६९ ॥

[ ग्रामतिगृहे श्वश्रु एकैव पाटला इह ग्रामे ।
बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥ ]

हे श्वश्रु, इस ग्राममें केवल ग्रामणीके यहाँ एक पाटलावृक्ष है। देवरका मस्तक तो अनेक पाटलोंद्वारा युक्त दिखायी देता है, यह तो अच्छा काम नहीं है ॥ ६९ ॥

अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं ।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण आणन्ति ॥ ७० ॥
[ अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति ॥ ]

अन्यान्य अनेक सुन्दरियोंके मुखमें पक्ष्मल (पंख जैसे) धवल एवं दीर्घकृष्ण नयनयुगल वर्तमान रहते हैं, तथापि वे सब ( भ्रूविलासादि के साथ ) देखना नहीं जानते ॥ ७० ॥

हंसेहि व तुह रणजलअसमअभअचलिअविहलवक्खेहिं ।
परिसेसिअपोम्मासेहिँ माणसं गम्मइ रिऊहिं ॥ ७१ ॥
[ हंसैरिव तव रणजलदसमयभयचलितविह्वलपक्षैः ।
परिशेषितपद्माशैर्मानसं गम्यते रिपुभिः ॥ ]

हे राजन्, हंसोंकी भाँति तुम्हारे शत्रु ( सेवाद्वारा ) तुम्हारे मनका अनुगमन अर्थात् छन्दानुवर्त्तन करते हैं। कारण, उनके स्वपक्षीयगण तुम्हारे रणरूप जलद समयको उपस्थित देखकर विह्वलचित्तसे भाग रहे हैं एवं उनकी श्रीप्राप्ति की आशा शेष हो रही है, हंसगण भी जलद-समय उपस्थित होनेपर विह्वल होकर भागना आरम्भ करते हैं एवं पद्मप्राप्तिकी आशा शेष है सोचकर मानसरोवरकी ओर दौड़ पड़ते हैं ॥ ७१ ॥

दुग्गअघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइणो ।
पुच्छिअदोहलसद्धा पुणो वि उअअं चिअ कहेइ ॥ ७२ ॥
[ दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्ती आकुलत्वं पत्युः ।
पृष्टदोहदश्रद्धा पुनरप्युदकमेव कथयति ॥ ]

किस दोहद ( गर्भवतीकी नाना प्रकारकी साध ) की तुम्हें इच्छा है, पतिसे ऐसा पूछी जानेपर भी दुर्गत घरकी पत्नी पतिकी व्याकुलता दूर करनेके लिए बारबार पानी ही माँग रही है ॥ ७२ ॥

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुअहणाणं।
अवरह्णमज्जिरीणं कए ण कामो वहइ चावं॥ ७३॥
[ आताम्रलोचनानामार्द्रांशुकप्रकटोरुजघनानाम्।
अपराह्णमज्जनशीलानां कृते न कामो वहति चापम्॥ ]

गीले कपड़े पहननेके कारण जिनके उरु एवं जघनस्थल प्रकट हैं, जिनके नेत्र ताम्रवर्ण विशिष्ट आरक्त हैं—अपराह्न समय जलमें मज्जन ( स्नान ) करनेवाली उन सब रमणियोंके लिए कामदेव धनुष नहीं ढोते॥ ७३॥

के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा।
णहराइँ वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति॥ ७४॥
[ के उर्वरिताः के इह न खण्डिताः के न लुप्तगुरुविभवाः।
नखराणि वेश्या गणनारेखा इव वहन्ति॥ ]

कितने पुरुष आयन्त आकृष्ट नहीं हुए हैं, कितने पुरुष खण्डित ( मग्नमन ) नहीं हुए हैं और कितने पुरुष विपुलवैभव नहीं खो चुके हैं, वेश्याएँ इस विषय की गणना रेखाके रूपमें कामुकप्रदत्त नखचिह्न धारण करती हैं॥ ७४॥

विरहेण मन्दरेण व हिअअं दुद्धोअहिं व महिऊण।
उम्मूलिआइँ अव्वो अम्हं रअणाइँ व सुहाइं॥ ७५॥
[ विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा।
उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि॥ ]

मन्दार पर्वत जिसप्रकार क्षीरसागरको मथकर रत्नोंको निकालता है, अहो, तुम्हारा विरह भी उसी प्रकार हृदयको मथकर इसके सारे सुखोंको समूल नष्ट कर देता है॥ ७५॥

उज्जुअरए ण तूसइ वक्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ।
एत्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु कामव्वं॥ ७६॥
[ ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति।
अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्तव्यम्॥ ]

पति हावभावशून्य रतिसे तुष्ट नहीं होता, वक्ररतिसे भी ( कहाँ सीखा ) सोचविचारकर सन्देह करता है। मैं जब अशिक्षित हूँ, तब प्रियके प्रति प्रिय-आचरण किस प्रकार करूँगी?॥ ७६॥

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणँ को उवज्झाओ।
सिक्खइ असिक्खिआइँ वि सव्वो णेहाणुबन्धेण॥ ७७॥

[ बहुविधविलाससरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।
शिक्षयते अशिक्षितान्यपि सर्वं स्नेहानुबन्धेन ॥ ]

बहुविध विलाससंयुक्त सुरतके सम्बन्धमें महिलाओंका ( अन्य ) शिक्षक कौन है ? स्नेहानुबन्धन ही सबको अशिक्षित वस्तुकी शिक्षा दे देता है ॥७७॥

वण्णवसिए विअत्थसि सच्चं विअ सो तुए ण संभविओ ।
ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइं ॥ ७८ ॥
[ वर्णवशिते विकत्थसे सत्यमेव स त्वया न सम्भावितः ।
न खलु भवन्ति तस्मिन्दृष्टे स्वस्थावस्थान्यङ्गानि ॥ ]

अरी नायक गुण वर्णनद्वारा वशीकृत हृदये, तुम व्यर्थ की आत्मश्लाघा प्रकट करती हो । किन्तु वस्तुतः तुमने उसे दृष्टिद्वारा सम्भावित या अनुगृहीत नहीं किया है । कारण, उसके एक बार दिखायी पड़ जाने पर अङ्ग स्वस्थ नहीं रह सकते ॥ ७८ ॥

आसण्णविआहदिणे अहिणववहुसङ्गमस्सुअमणस्स ।
पढमघरिणीअ सुरअं वरस्स हिअए ण संठाइ ॥ ७९ ॥
[ आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसङ्गमोत्सुकमनसः ।
प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य हृदये न सन्तिष्ठते ॥ ]

आसन्न विवाहके दिन नववधूके सङ्गम मात्रिकेलिए उत्सुकचित्त वरके हृदयमें प्रथम गृहिणीकी सुरतकथा स्थान प्राप्त नहीं करती ॥ ७९ ॥

जइ लोअणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्कमज्जाअं ।
पुप्फवइदंसणं तह वि देइ हिअअस्स णिव्वाणं ॥ ८० ॥
[ यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम् ।
पुष्पवतीदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥ ]

पुष्पवती रमणीका दर्शन यदि लोकनिन्दित भी हो, यदि अमङ्गलजनक भी हो एवं यदि मर्यादोल्लङ्घनदोषसे दूषित भी हो, तब भी वह हृदयमें सुख उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि ।
छित्तोसि चुलचुलन्तेहिँ धाविऊण अम्हं हत्थेहिं ॥ ८१ ॥
[ यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।
स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्धावित्वास्माकं हस्तैः ॥ ]

यदि पुष्पवतीको छूओगे नहीं तो, वर्जित होने पर भी सामने क्यों खड़े हो? मेरे चुलबुलायमान ( चञ्चल ) हाथने भागकर तुम्हें छू लिया ॥ ८१ ॥

उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डणविलक्खा ।
लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहीहिँ वि वराई ॥ ८२ ॥

[ उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोघमण्डनविलक्षा ।
लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराकी ॥ ]

हे सुभग, मेरी इस हतभागिनी एवं लज्जाशीलाका नयनयुगल अभिजागरणके कारण आरक्त एवं भाराक्रान्त हुआ है। निरर्थक अलङ्करणसे यह विमूढ़ा होकर सखियोंसे भी लज्जित हो रही है ॥ ८२ ॥

ण वि तह अइ गरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स ।
जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्ला अपावन्ती ॥ ८३ ॥

[ नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य ।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ॥ ]

गर्भिणी पुत्रवधू प्रियतमके साथ विपरीत विहारभोग नहीं कर सकेगी। यह सोचकर मन ही मन जितनी दुखी हो रही है, उतनी दुखी तो गर्भके गम्भीर भारसे भी नहीं हो रही है ॥ ८३ ॥

अगणिअजणावबाअं अवहत्थिअगुरुअणं वराईए ।
तुह गलिअदंसणाए तीए वलिऊण चिरं रुण्णं ॥ ८४ ॥

[ अगणितजनापवादमपहस्तितगुरुजनं वराकया ।
तव गलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥ ]

तुम्हें देख न पानेके कारण वह बेचारी लोकापवादकी चिन्ता एवं गुरुजनोंको असम्मानित कर मुँह फिराकर बहुत देरसे रोदन कर रही है ॥ ८४ ॥

हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुह मुहे दिट्ठी ।
आलिङ्गणरहिआइं णवरं खिज्जन्ति अङ्गाइं ॥ ८५ ॥

[ हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।
आलिङ्गनरहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥ ]

सखी तुम्हारे हृदयमें अपना हृदय संस्थापित रखती है। तुम्हारे मुखपर उसकी दृष्टि चित्राङ्किताकी भाँति संलग्न है—केवल आलिङ्गनरहित होनेके कारण उसके अङ्ग क्षीण होते जा रहे हैं ॥ ८५ ॥

अइअं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअं ।
अप्पाहिज्जउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुत्तं ॥ ८६ ॥
[ अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम् ।
अभिधीयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥ ]

मैं प्रियके विरहमें कृश हुई हूँ, विरहाग्नि दुःसह प्रतीत हो रही है, जीवन भी चञ्चल अर्थात् गमनोन्मुख हो गया है। अरी सखी, इस समय जो उपयुक्त हो, उसीका उपदेश दे ॥ ८६ ॥

तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं ।
वाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं पि ॥ ८७ ॥
[ तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि ।
बाष्पेण यदालोकनविनोदनं तस्या हतं तदपि ॥ ]

तुम्हारा विरहजनित जागरण स्वप्नमें भी तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न सुख नहीं दे रहा है। जो देखनेमें थोड़ा-बहुत अच्छा भी लगता है वह भी तुम्हारे आँसुओंसे आच्छन्न होनेके कारण नष्ट प्रतीत होता है ॥ ८७ ॥

अण्णावराहकुविओ जहतह कालेण गम्मइ पसाअं ।
वेसत्तणावराहे कुविअं कहँ तं पसाइस्सं ॥ ८८ ॥
[ अन्यापराधकुपितो यथातथा कालेन गच्छति प्रसादम् ।
द्वेष्यत्वापराधे कुपितं कथं तं प्रसादयिष्यामि ॥ ]

मेरा यदि अन्य किसी प्रकारके अपराधसे वह कुपित होते तो जिस किसी प्रकार समय पाकर उसे प्रसन्न कर लिया जाता। किन्तु मेरे प्रति द्वेष्य भावरूप अपराध होनेके कारण,उसे किस प्रकार प्रसन्न करूँगी ॥ ८८ ॥

दीससि पिआणि जम्पसि सब्भावो सुहअ एत्तिअ व्वेअ ।
फालेइऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥ ८९ ॥
[ दृश्यसे प्रियाणि जल्पसि सद्भाव- सुभग एतावानेव ।
पाटयित्वा हृदयं कथय को दर्शयति कस्य ॥ ]

हे सुभग, तुम्हारा इतना सद्भाव है कि तुम मुझे दर्शन देते हो एवं मुझसे प्रिय बातें करते हो, किन्तु बताओ तो, कौन किसे हृदय चीरकर दिखाये ?

उअअं लहिऊण उत्ताणिआणणा होन्ति के वि सविसेसं ।
रित्ता णमन्ति सुइरं रहट्टघडिअ व्व कापुरिसा ॥ ९० ॥

[ उदकं लब्ध्वा उत्तानितानना भवन्ति केऽपि सविशेषम्।
रिक्ता नमन्ति सुचिरं रहट्ट (अरघट्ट) घटिका इव कापुरुषाः ॥ ]

कोई-कोई क्षुद्र पुरुष घटी यन्त्रमें स्थित घटिकाकी भाँति जल पानेपर (अल्प सम्पत्ति पाकर) विशेष प्रकारसे मस्तक ऊँचा कर लेते हैं एवं रिक्तावस्थामें बहुत देर तक नम्र रहते हैं ॥ ९० ॥

भग्गपिअसङ्गमं केत्तिअं व जोह्णाजलं णहसरम्मि।
चन्दअरपणालणिज्झरणिवहपडन्तं ण णिट्ठाइ ॥ ९१ ॥
[ भग्नप्रियसङ्गमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभःसरसि।
चन्द्रकरप्रणालनिर्झरनिवहपतच्च निस्तिष्ठति ॥ ]

आकाशरूपी सरोवरमें प्रियसङ्गमभङ्गकारी ज्योत्स्नाजल और कितना है ? चन्द्रकिरणरूप प्रणालनिर्झरसमूह ( परनाले ) से गिरकर यह तो समाप्त ही नहीं हो रहा है ॥ ९१ ॥

सुन्दरजुआणजणसङ्कुले वि तुह दंसणं विमग्गन्ती।
रण्ण व्व भमइ दिट्ठी वराइआए समुव्विग्गा ॥ ९२ ॥
[ सुन्दरयुवजनसङ्कुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गयन्ती।
अरण्य इव भ्रमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥ ]

बहुत सुन्दर युवकोंसे भरे हुए स्थानमें भी तुम्हारे दर्शनकी खोज करके ही इस बेचारीकी दृष्टि समुद्विग्न हो मानो अरण्य अथवा शून्यमें घूम रही है ॥

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्णाए।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥
[ अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥ ]

प्रणामार्थ पाद-पतनमें अवनता प्रोषितभर्तृका पुत्रवधू, उसके हाथमें स्थित दोनों वलय ही ढीले हो रहे हैं। ऐसा देखकर अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाली सासको भी दुःखिता रुला रही है ॥ ९३ ॥

रोवन्ति व्व अरण्णे दूसहरइकिरणफंससंतत्ता।
अइतारझिल्लिविरुएहिँ पाअवा गिम्हमज्झह्णे ॥ ९४ ॥
[ रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतप्ताः।
अतितारझिल्लीविरुतैः पादपा ग्रीष्ममध्याह्ने ॥ ]

ग्रीष्मकी दुपहरीमें महलमें शिखीकीट समूह आयता सीप स्थानों शोर कर रहे हैं। दुःसह सूर्यकिरणोंके स्पर्शसे सन्तप्त हो भ्रमरसमूह शोर रहे हैं॥ ९४॥

पढमणिलीणमहुरमहुल्लोहल्लालिउलबद्धझंकारं।
अहिमअरकिरणणिउरम्बचुम्बिअं दलइ कमलवणं॥ ९५॥
[ प्रथमनिलीनमधुरमधुलुब्धालिकुलबद्धझंकारम्।
अहिमकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितं दलति कमलवनम्॥ ]

पहले आये हुए मधुरमधुलोलुप मधुकरपुञ्जके गुञ्जनसे गुञ्जित कमलवन सूर्यकिरणपुंजकी रश्मियोंद्वारा चुम्बित या स्पृष्ट होकर प्रस्फुटित हो रहा है॥ ९५॥

गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे।
वज्झमहिसस्स मालं व्व मण्डणं उअह पडिहाइ॥ ९६॥
[ गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य तस्याः क्षणदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति॥ ]

देखो, आज इस उत्सवके दिन प्रियतमके मुँहसे गोत्रस्खलन सुननेके कारण, इस महिलाकी शोभा मानो वध्यमहिषके गलेमें डाली हुई मालाकी भाँति प्रतिभात हो रही है॥ ९६॥

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घरा णेन्तीं।
अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो फुडु मओ सो मओ च्चेअ॥ ९७॥
[ मघमघायते मलयवातः श्वश्रूर्वारयति मां गृहान्निर्यान्तीम्।
अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः स मृत एव॥ ]

मलयपवन उत्कट सौरभ वहन कर रहा है, इसी कारण सास मुझे घरसे निकलनेको मना कर रही है। किन्तु गृहवाटिकास्थित अङ्कोटवृक्षके परिमलसे जिसे मरना आता है, वह मारी जायेगी॥ ९७॥

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दोवि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति॥ ९८॥
[ मुखप्रेक्षकः पतिस्तस्याः सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते॥ ]

उसका पति सदैव ही उसके मुखड़ेका दर्शनाकांक्षी है। वह भी उनका मुख देखनेकेलिए विशेषतः उन्मत्त रहती है। इस प्रकार दोनों ही परस्पर

कृतार्थ होनेके कारण सोचते हैं कि पृथिवीपर कोई दूसरा पुरुष या कोई दूसरी स्त्री नहीं है ॥ ९८ ॥

खेमं कत्तो खेमं जो सो खुज्जम्बओ घरद्दारे।
तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थो समुप्पण्णो ॥ ९९ ॥
[ क्षेमं कुतः क्षेमं योऽसौ कुब्जाम्रको गृहद्वारे।
तस्य किलमस्तकात्कोऽप्यनर्थः समुत्पन्नः ॥ ]

मेरा कुशल कैसे सम्भव है ? घरके दरवाजेपर जो छोटा आमका पेड़ है, वही हमारे कुशल क्षेमकी सूचना देता है। इसके मस्तकसे क्या एक अनर्थभूत ( मुकुल ) उत्पन्न हो रहा है ? ॥ ९९ ॥

आउच्छणविच्छाअं जाआइ मुहं णिअच्छमाणेण।
पहिएण सोअणिअलाविएण गन्तुं व्विअण इट्ठं ॥ १०० ॥
[ आपृच्छनविच्छायं जायायाः मुखं निरीक्षमाणेन।
पथिकेन शोकनिगडितेन गन्तुमेव नेष्टम् ॥ ]

विदाईके समय जायाका मुखड़ा शुष्क एवं मलिन देखकर पथिकने शोक निमग्न होकर जानेकी इच्छा ही नहीं की ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छल पमुहसुकइणिम्मइए।
सत्तसअम्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

रसिकोंके हृदयके अत्यंत प्रिय एवं कविवत्सल प्रमुख सुकविगणरचित सप्तशतीमें यह पञ्चम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

# षष्ठशतक

सूईवेहे मुसलं विच्छुहमाणेण दड्ढलोएण।
एक्कग्गामे वि पिओ समअं अच्छीहिँ वि ण दिट्ठो॥ १॥
[ सूचीवेधे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन।
एकग्रामेऽपि प्रियः समाभ्यामक्षिभ्यामपि न दृष्टः॥ ]

दग्ध व्यक्ति सूचीवेधके सूक्ष्मस्थानपर मूसलनिक्षेप करते हैं। इस कारण, एक ही गाँवमें वर्तमान प्रियको मैं समान भावसे आँखभर देख भी नहीं पाती॥ १॥

अज्जं पि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्तिं।
कल्लिं उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सं॥ २॥
[ अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम्।
कल्ये पुनस्तस्मिन्गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि॥ ]

हे प्रिय सखि, केवल आज एक दिनकेलिए तुम हमें रोनेसे मना मत करना। किन्तु, कल प्रियतमके चले जाने पर यदि प्राणान्त न हो जाय तो फिर नहीं रोऊँगी॥ २॥

यदि त्ति वाहरन्तम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए।
विउणावेढिअजहणत्थलाइ लज्जाणअं हसिअं॥ ३॥
[ एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम्॥ ]

तुमलोग देखो, 'आओ' कहकर प्रियतम द्वारा बुला लीजानेपर अवनतमुखी महिला होकर जाँघोंको दोहरे वस्त्राञ्चल द्वारा ढँककर लज्जावनत हँसी॥ ३॥

मारेसि कं ण मुद्धे इमेण पेरन्तरत्तविसमेण।
भुलआचावविणिग्गअतिक्खअरद्धच्छिभल्लेण॥ ४॥
[ मारयसि कं न मुग्धे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण।
भ्रूलताचापविनिर्गततीक्ष्णतरार्धाक्षिभल्लेन॥ ]

हे मुग्धे, अपने रक्तिम, तीक्ष्ण एवं विषम भ्रूलताचापसे विनिर्गत तथा

तीक्ष्णतर अर्द्धनिमीलित इन नयनरूप बाणोंद्वारा तुम किसे नहीं मार सकती ॥ ४ ॥

तुह दंसणे सअह्वा सद्दं सोऊण णिग्गदा जाइं।
तइ वोलीणे ताइं पआइँ वोढव्विआ जाआ ॥ ५ ॥
[ तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥ ]

तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषिणी होकर वह कण्ठध्वनि सुनकर घरसे जितने पग निकली थी, तुम्हारे चले जानेपर उसे उतनेही पग तक ढोकर ले आना पड़ा था ॥ ५ ॥

ईसामच्छररहिएहिँ णिव्विआरेहिँ मामि अच्छीहिं।
एह्णिं जणो जणम्मिव णिरिच्छए कहँ ण छिज्जामो ॥ ६ ॥
[ ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम् ।
इदानीं जनो जनमिव निरीक्षते कथं न क्षीयामहे ॥ ]

मामी, सम्बन्धहीन महिलाओंके प्रति साधारण पुरुषोंकी नाईं वह मेरे प्रति ईर्ष्या एवं मत्सर भावसे शून्य तथा निर्विकार नयनोंसे देख रहा है। मैं क्षीण क्यों नहीं होऊँगी ? ॥ ६ ॥

वाउद्धअसिचअविहाविओरुदिट्ठेण दन्तमग्गेण।
वहुँमाआ तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥ ७ ॥
[ वातोद्धतसिचयविभावितोरुदृष्टेन दन्तमार्गेण ।
वधूमाता तोष्यते निधानकलशस्येव मुखेन ॥ ]

भूमि खोदते समय स्थापन कलशका मुँह दिखायी पड़नेपर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता नये बहूकी माताको, वस्त्राञ्चलके हवासे उड़ जाने पर कन्याके उरु प्रदेशपर दन्तक्षत देखकर हुई ॥ ७ ॥

हिअअम्मि वससि ण करेसि मण्णुअं तह वि णेहभरिएहिं।
सङ्किज्जसि जुअइसुहावगलिअधीरेहिँ अम्हेहिं ॥ ८ ॥
[ हृदये वससि न करोषि मन्युं तथापि स्नेहभृताभिः ।
शङ्क्यसे युवतिस्वभावगलितधैर्याभिरस्माभिः ॥ ]

तुम मेरे हृदय में वास कर रहे हो एवं मेरे प्रति क्रोध नहीं प्रकट करते अर्थात् मेरा दुःख नहीं बढ़ाते। फिर भी स्नेहपूर्ण एवं युवतीस्वभाववश धैर्य विगलित होनेके कारण मुझे आशङ्का हो रही है ॥ ८ ॥

अण्णं पि किं पि पाविहिसि मूढ मा तम्म दुक्खमेत्तेण।
हिअअ पराहीणजणं मग्गन्त तुह केत्तिअं एअं ॥ ९ ॥
[ अन्यदपि किमपि प्राप्स्यसि मूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण।
हृदय पराधीनजनं मृगयमाण तव कियन्मात्रमिदम् ॥ ]

अरे मूढ हृदय, केवल विरहदुःखके कारण कष्टका अनुभव मत करना, अन्य कुछ भी अर्थात् मृत्यु भी पाओगे। पराधीन व्यक्तिकी प्रार्थनाके समान तुम्हारा यह विरहदुःख कितना है अर्थात् अत्यल्प है ॥ ९ ॥

वेसोसि जीअ पंसुल अहिअअरं सा हु वल्लभा तुज्झ।
इअ जाणिऊण वि मए ण ईसिअं दड्ढपेम्मस्स ॥ १० ॥
[ द्वेष्योऽसि यस्याः पांसुल अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव।
इति ज्ञात्वापि मया न ईर्ष्यितं दग्धप्रेम्णः ॥ ]

अरे पापिष्ठ, तुम जिस कामिनी द्वारा उपेक्षित या विरागभाजन हो, उसी को अधिक प्रेम करते हो, यह जानकर भी मैं दग्धप्रेमके प्रति या दग्धप्रेमके वश ईर्ष्यालु नहीं हुई ॥ १० ॥

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहं।
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ ॥ ११ ॥
[ सा सत्यं सुभग गुणरूपशोभनशीला सत्यं निर्गुणा चाहम्।
भण तस्या यो न सदृशः किं स सर्वो जनो म्रियताम् ॥ ]

हे सुभग, वास्तवमें तुम्हारी वह प्रेयसी रूपगुणशालिनी है, एवं मैं गुणविहीना हूँ। बताना तो, जितने व्यक्ति उसके सदृश नहीं हैं, वे क्या मर जायँ ॥ ११ ॥

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति।
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओ जरा मनुस्साणं ॥ १२ ॥
[ सदसद्दुःखं सुखं च या गृहस्य जानन्ति।
ताः पुत्रक महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम् ॥ ]

हे पुत्रक, जो वधुएँ घरके सभीके सदसत् सुख दुःख सभीको विचारकर चलना जानती हैं, केवल वे ही महिला पद-वाच्य हैं; अन्यान्य रमणियाँ केवल मानवीय जराके समान हैं अर्थात् कुल-कलङ्किनी हैं ॥ १२ ॥

हसिएहिँ उवालम्भा अच्चुवआरेहिँ रूसिअव्वाइं।
अंसूहिँ भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥ १३ ॥

[ हसितैरुपालम्भा अत्युपचारैः खेदितव्यानि ।
अश्रुभिः कलहा एव मार्गः सुमहिलानाम् ॥ ]

हास्य द्वारा तिरस्कार, अत्यादर द्वारा खेद-प्रकाश एवं अश्रुद्वारा कलहुरण वा रुष्ट करना, अच्छी महिलाओंकी यही मान प्रकट करनेकी रीति है ॥१३॥

उल्लावो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध त्ति णाम काऊण ।
सँमुहापडिए को उण वेसे वि दिट्ठिं ण पाडेइ ॥ १४ ॥

[ उल्लापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।
संमुखापतिते कः पुनर्द्वेष्येऽपि दृष्टिं न पातयति ॥ ]

लोकविरुद्ध कार्य समझकर शोकप्रकाश ( शोकध्वनि ) नहीं किया गया है। किन्तु किसी व्यक्ति के अप्रिय अथवा उपेक्षित होनेपर भी क्या उसके सामने आजानेपर उसपर दृष्टि न डाली जाय ? १४ ॥

साहीणपिअअमो दुग्गओ वि मण्णइ कअत्थमप्पाणं ।
पिअरहिओ उण पुहविं वि पाविउण दुग्गओ च्चेअ ॥ १५ ॥

[ स्वाधीनप्रियतमो दुर्गतोऽपि मन्यते कृतार्थमात्मानम् ।
प्रियरहितः पुनः पृथिवीमपि प्राप्य दुर्गत एव ॥ ]

स्वयं दुर्गत होनेपर भी जिनकी प्रियतमा स्वाधीना हैं, वे अपनेको कृतार्थ समझते हैं। किन्तु जो व्यक्ति प्रियारहित हैं, वे पृथिवी प्राप्त होनेपर भी दुर्गत ही रह जाते हैं ॥ १५ ॥

किं रुअसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एक्कमेक्कस्स ।
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुन्धिउं तरइ ॥ १६ ॥

[ किं रोदिषि च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै ।
प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोद्धुं शक्नोति ॥ ]

अरी सुतनु, रोती क्यों हो, शोकचिन्ता भी क्यों करती हो, प्रत्येक व्यक्ति पर क्रोध क्यों प्रकट करती हो ? बताओ तो विषके समान विषम प्रेमको कौन अवरुद्ध कर सकता है ? १६ ॥

ते अ जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्ह तारुण्णं ।
अक्खाणअं व लोओ कहेइ अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥

[ ते च युवानस्ता ग्रामसंपदस्तच्चास्माकं तारुण्यम् ।
आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि तच्छृणुमः ॥ ]

वे ही, वे युवक तब थे, वह ही, वह तब ग्राम-सम्पत्ति थी और तब हम लोगोंका वही-वह यौवन भी था। लोग आख्यानकी भाँति उन सबका वर्णन करेंगे और हम सब सुनेंगे ॥ १७ ॥

वाहोहभरिअगण्डाहराएँ भणिअं विलक्खहसिरीए।
अज्ज वि किं रूसिज्जइ सवहावत्थं गअं पेम्मं ॥ १८ ॥
[ बाष्पौघभृतगण्डाधरया भणितं विलक्षहसनशीलया।
अद्यापि किं रुष्यते शपथावस्थां गतं प्रेम ॥ ]

वाष्पप्रवाहसे गण्डस्थल एवं अधरको भरकर लज्जाभीतासे हँसकर वह नायिका बोली, अब और रोष क्यों प्रकट कर रही हो? प्रेम शपथकी अवस्था पा चुका है अर्थात् शपथ द्वारा प्रेमकी प्रतीति घटती है ॥ १८ ॥

वण्णअघअलिप्पमुहिं जो मं अइआअरेण चुम्बन्तो।
एह्णि सो भूसणभूसिअं पि अलसाअइ छिवन्तो ॥ १९ ॥
[ वर्ण घृतलिप्तमुखीं यो मामत्यादरेण चुम्बन्।
इदानीं स भूषणभूषितामप्यलसायते स्पृशन् ॥ ]

पुष्पावतीकी दशामें वर्णघृतद्वारालिप्तमुखी जिसने मुझे अत्यन्त आदरके साथ चूमा था, वही अब मेरे भूषणद्वारा अलङ्कृत होनेपर भी मुझे छूनेमें संकोच का बोध कर रही है ॥ १९ ॥

णीलपडपाउअङ्गी त्ति मा हु णं परिहरिज्जासु।
पट्टंसुअं पि णइं रअम्मि अवणिज्जइ श्चेअ ॥ २० ॥
[ नीलपटप्रावृताङ्गीति मा खल्वेनां परिहर।
पट्टांशुकमपि नद्धं रतेऽपनीयत एव ॥ ]

नीले वस्त्रद्वारा आवृत्त अङ्गवाली समझकर उसे कभी त्याग न देना। पहने हुए पट्टवस्त्र भी रमणके समय छीन लिये जाते हैं ॥ २० ॥

सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति।
माणो उण माणंसिणि गरुओ पेम्मं विणासेइ ॥ २१ ॥
[ सत्यं कलहे-कलहे सुरतारम्भाः पुनर्नवा भवन्ति।
मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेम विनाशयति ॥ ]

प्रत्येक कलहके उपरान्त प्रारम्भ किया हुआ रमण पुनः नवीन होता है, यह सच है। किन्तु हे मनस्विनि, भारी होनेपर मान प्रेमका विनाश कर देता है ॥ २१ ॥

माणुम्मत्ताइ मए अकारणं कारणं कुणन्तीए ।
अद्दंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढवाएण ॥ २२ ॥
[ मानोन्मत्तया मया अकारणं कारणं कुर्वत्या ।
अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रौढवादेन ॥ ]

मानमें उन्मत्त हो, मान करनेका जो कारण नहीं है उसे कारण समझकर दर्शन तक दिये बिना मैंने प्रतिज्ञापूर्वक अस्वीकृति द्वारा प्रेमको विनष्टकर डाला है ॥ २२ ॥

अणुऊलं विअ वोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि ।
कुविअं अ पसाएउं सिक्खइ लोओ तुमाहिन्तो ॥ २३ ॥
[ अनुकूलमेव वक्तुं बहुवल्लभवल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि ।
कुपितं च प्रसादयितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥ ]

हे बहुवल्लभ, प्रिय रहो या अप्रिय, लोग तुमसे यह सीख सकते हैं कि किससे किस प्रकार अनुकूल वचनका प्रयोग करना चाहिए एवं कुपित व्यक्तिको किस प्रकार प्रसन्न करना चाहिए ॥ २३ ॥

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसघोसणा दिण्णा ।
जस्स कएणं पिअसहि सो च्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥
[ लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोघोषणा दत्ता ।
यस्य कृतेन (कृतेमनु) प्रिय सखि स एव जनो जनो जातः ॥ ]

हे प्रिय सखि, जिसके लिए मैंने वस्तुतः लज्जा छोड़ दी है, चरित्रको भङ्ग कर दिया है एवं अपयश मोल ले रखा है वह ( प्रिय ) व्यक्ति ही अब ( उदासीन ) व्यक्ति बन गया है ॥ २४ ॥

हसिअं अदिट्ठदन्तं भमिअमणिक्कन्तदेहलीदेसं ।
दिट्ठमणुक्खित्तमुहं एसो मग्गो कुलवहूणं ॥ २५ ॥
[ हसितमदृष्टदन्तं भ्रमितमनिष्क्रान्तदेहलीदेशम् ।
दृष्टमनुत्क्षिप्तमुखमेष मार्गः कुलवधूनाम् ॥ ]

कुलवधुओंकी यही रीति है, बिना दाँत दिखाये हँसना चाहिए, देहलीके आगे बढ़े बिना घूमना चाहिए एवं मुँह ऊपर उठाये बिना देखना चाहिए ॥

धूलिमइलो वि पङ्कङ्किओ वि तणरइअदेहभरणो वि ।
तह वि गइन्दो गरुअत्तणेण ढक्कं समुव्वहइ ॥ २६ ॥

[ धूलिमलिनोऽपि पङ्काङ्कितोऽपि तृणरचितदेहभरणोऽपि ।
तथापि गजेन्द्रो गुरुकत्वेन ढक्कां समुद्वहति ॥ ]

धूलिमलिन होनेपर भी, पङ्काङ्कित होनेपर भी, तृण द्वारा देहपोषणकारी होनेपर भी गजेन्द्र अपने गुरुत्ववश ( भारीपनके कारण ) ढोल वहन करता है ॥

करमरि कीस ण गम्मइ को गव्वो जेण मसिणगमणासि ।
अदिट्ठदन्तहसिरीअ जम्पिअं चोर जाणिहिसि ॥ २७ ॥
[ बन्दि किमिति न गम्यते को गर्वो येन मसृणगमनासि ।
अदृष्टदन्तहसनशीलया जल्पितं चोर ज्ञास्यसि ॥ ]

हे बन्दी, मेरे साथ चलती क्यों नहीं ? तुम्हें क्या यह गर्व है कि इतनी मन्दगमना हो गयी हूँ ? दाँत बिना दिखाये हँसकर रमणी बोल उठी, "हे चोर, ( क्यों ऐसा करती हूँ ) जान जाओगे" ॥ २७ ॥

थोरंसुएहिँ रुण्णं सवत्तिवग्गेण पुप्फवइआए ।
भुअसिहरं पइणो पेच्छिऊण सिरलग्गतुप्पलिअं ॥ २८ ॥
[ स्थूलाश्रुभी रुदितं सपत्नीवर्गेण पुष्पवत्याः ।
भुजशिखरं पत्युः प्रेक्ष्य शिरोलग्नघृतलिप्तम् ॥ ]

पुष्पवतीके शिरोलग्नविलेपन घृतद्वारा पतिके भुजशिखरको लिप्त देखकर सपत्नियाँ अविरल अश्रुधार बहाकर रोने लगीं ॥ २८ ॥

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होइ होउ तं णाम ।
एहि णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ॥ २९ ॥
[ लोकः खिद्यते खिद्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।
एहि निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति नैति मे निद्रा ॥ ]

लोग दुखी होते हैं तो हों, निन्दा होती है तो वह भी हो । हे पुष्पवती, आओ, मेरे पास आजाओ, मुझे निद्रा नहीं आ रही है ॥ २९ ॥

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलं दिसाअक्कं ॥ ३० ॥
[ यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र ।
तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम् ]

मैं जिधर-जिधर देखती हूँ, मानो उधर ही उधर तुम्हें चित्रित देखती हूँ । सारे दिक्चक्र ही जैसे तुम्हारी प्रतिमाको परस्पर वहन कर रहे हैं ॥ ३० ॥

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ ।
जम्बूफलं ण गेह्णइ भमरो त्ति कई पढमडक्को ॥ ३१ ॥

[ अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति ।
जम्बूफलं न गृह्णाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः ॥ ]

भौंरे द्वारा पहले काटलिये जानेपर वानर बड़ी जोरसे खो खोकर ( जम्बुवृक्षसे ) हट रहा है, डालको हिला रहा है एवं पुनः नखद्वारा इसपर खुरच रहा है। किन्तु इसमें भौंरा है, यह समझकर जामुनके फलको नहीं ले रहा है ॥ ३१ ॥

ण छिवइ हत्थेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउञ्जे ।
दरलॅम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहत्थं ॥ ३२ ॥

[ न स्पृशति हस्तेन कपिः कंडूतिभयेन पत्रलनिकुञ्जे ।
ईषल्लम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृशं वानरीहस्तम् ॥ ]

पत्रबहुल निकुञ्जमें वानर लम्बमान कपिकच्छु नामक गुच्छे की भाँति दिखायी पड़ता है। इस कारण खुजलीके समय इष्टतम होनेपर भी वानरीके हाथको अपने हाथसे छूता नहीं ॥ ३२ ॥

सरसा वि सूसइ च्चिअ जाणइ दुक्खाइँ मुद्धहिअआ वि ।
रत्ता वि पण्डुर च्चिअ जाआ वरई तुह वि विओए ॥ ३३ ॥

[ सरसापि शुष्यत्येव जानाति दुःखानि मुग्धहृदयापि ।
रक्तापि पाण्डुरैव जाता वराकी तव वियोगे ॥ ]

तुम्हारे वियोगमें वह वराकी रसयुक्ता होकर भी सूखती जा रही है, मोहाच्छन्नहृदया होकर भी दुःखका अनुभव कर रही, एवं रक्ता ( अनुरक्ता ) होकर भी पाण्डुवर्णा होती जा रही है ॥ ३३ ॥

आरुहइ जुण्णअं खुज्जयं वि जं उअह वल्लरी तउसी ।
णीलुप्पलपरिमलवासिअस्स सरअस्स सो दोसो ॥ ३४ ॥

[ आरोहति जीर्णं कुब्जकमपि यत्पश्यत वेष्टनशीला त्रपुसी ।
नीलोत्पलपरिमलवासितायाः शरदः स दोषः ॥ ]

देख, वल्लरी जो जीर्ण है एवं कुब्ज या वक्रवृक्षपर जो आरोहण करती है, वह नीलकमलके परिमलसे वासित शरत्काल ( ऋतुमद ) का दोष है ॥ ३४ ॥

उप्पहपहाविअजणो पविजिम्भिअकलअलो पहअतूरो ।
अव्वो सो च्चेअ छणो तेण विणा गामडाहो व्व ॥ ३५ ॥
[ उत्पथप्रधावितजनः प्रविजृम्भितकलकलः प्रहततूर्यः ।
दुःखं स एव क्षणस्तेन विना ग्रामदाह इव ॥ ]

हाय, जिस उत्सवमें लोग उसकी ओर भागते हैं, गीतादिद्वारा कलकल रव उठता है एवं तूर्यनिनाद उठाया जाता है—वही मधूत्सव उस प्रियतमके विरहमें ग्रामदाहकी भाँति प्रतीत हो रहा है ॥ ३५ ॥

उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्ठिएण ठड्ढेण ।
सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेण ॥ ३६ ॥
[ उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन ।
शङ्का श्मशानपादपलम्बितचोरेणेव खलेन ॥ ]

श्मशानवृक्ष पर गलेमें फाँसी डालकर लटकती हुई, कारबमान, स्तब्ध एवं परामवकारी चोरकी भाँति ( प्रवञ्चनार्थ ) बोलते हुए पार्श्वस्थित तथा गर्वसे स्तब्ध खल व्यक्ति किसमें शङ्का नहीं उत्पन्न करते ॥ ३६ ॥

असमत्तगुरुअकज्जे एह्णिं पहिए घरं णिअत्तन्ते ।
णवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअट्टहासेहिं ॥ ३७ ॥
[ असमाप्तगुरुककार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने ।
नवप्रावृट् पितृष्वसः हसतीव कुटजाट्टहासैः ॥ ]

अरी बुआ, सम्प्रति अत्यावश्यक कार्यको असमाप्त रहते ही पथिकके घर लौट आने पर, नयी वर्षासे गिरिमल्लिकाके खिलनेके समान अट्टहास-सी हँसी हँस रही है ॥ ३७ ॥

दट्ठूण उण्णामन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए ।
पहिअघरिणीअ डिम्भो ओत्थण्णमुहीअ सच्चविओ ॥ ३८ ॥
[ दृष्ट्वा उन्नमतो मेघानामुक्तजीविताशया ।
पथिकगृहिण्या डिम्भोऽवस्तृतमुख्या दृष्टः ॥ ]

आकाशमें बादलोंको उठते हुए देखकर, जीवनकी आशाका परित्याग कर, पथिकपत्नी ने दुःखसे मुँहसे अपने शिशुको अन्तिम बारकी रीतिसे स्थिर किया ॥ ३८ ॥

अधिअप्पच्चागअताणं ठाणं णेन्तो पुणो पुणो सरेइ ।
सहिसत्थो विअ माणंसिणीअ खलइ कलो अज्जे ॥ ३९ ॥

[ अविधवालक्षणवलयं स्थाने नयन्नुनः पुनर्गलितम् ।
सखीसार्थ एव मनस्विन्या वलयकारको जातः ॥ ]

मनस्विनीके अवैधव्यके लक्षणरूप वलयके गिर जानेपर, सखियाँ ही इसे बार-बार पहनाती हैं। अतः वे ही उसके वलय पहिनानेवाली ( चूड़िहारिन ) हो गई हैं ॥ ३९ ॥

पहिअवहू विवरन्तरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं पि ।
उद्देसं अविरअवाहसलिलणिवहेण उल्लेइ ॥ ४० ॥
[ पथिकवधूर्विवरान्तरगलितजलार्द्रे गृहेऽनार्द्रमपि ।
उद्देशमविरतबाष्पसलिलनिवहेनार्द्रयति ॥ ]

विवरों द्वारा गिरते हुए वर्षा जलकी धारासे आर्द्र गृहके जो-जो कोने अनार्द्र रह गए हैं, उन-उन स्थानोंको भी पथिककी वधू अविरल गिरनेवाली नेत्र जलकी धारासे आर्द्र कर रही है ॥ ४० ॥

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउं ।
पीडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ॥ ४१ ॥
[ जिह्वायां ( पक्षे-जिह्वया ) कुर्वन्ति प्रियं भवन्ति हृदये निर्वृतिं कर्तुम् ।
पीड्यमाना अपि रसं जनयन्तीक्षवः कुलीनाश्च ॥ ]

*गन्ना जिस प्रकार जिह्वाका स्वाद उत्पन्न करता है, हृदयमें ताप निवृत्त कर शान्तिका विधान करता है एवं निष्पीडित होनेपर भी रस उत्पन्न करता है,* उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति भी जिह्वा अर्थात् अनुकूल वचन द्वारा प्रियता उत्पन्न करते हैं। हृदयमें शान्ति प्रदान करते हैं एवं प्रपीडित होकर भी प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥ ४१ ॥

दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो ।
पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कण्ठिअं चेअं ॥ ४२ ॥
[ दृश्यते न चूतमुकुलं श्वश्रु न च वाति मलयगन्धवहः ।
प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कण्ठितं चेतः ॥ ]

हे सास, *आम्रमञ्जरी नहीं दिखायी पड़ती। मलयपवन भी नहीं बह रहा है, उत्कंठित चित्त ही वसन्तागमनकी सूचना दे रहा है ॥ ४२ ॥*

अग्घवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ ।
कत्तो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति ॥ ४३ ॥

[ आम्रवने भ्रमरकुलं न विना कार्येणोत्सुकं भ्रमति ।
कुतो ज्वलनेन विना धूमस्य शिखा दृश्यन्ते ॥ ]

अमराईमें अनायास ही उत्सुक हो भौंरे घूम नहीं रहे हैं अर्थात् मधुपान के लोभमें घूम रहे हैं। अग्निके अतिरिक्त धूएँकी शिखा कहाँ दिखायी पड़ती है ? ॥ ४३ ॥

दइअकरग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणं।
मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं ॥ ४४ ॥
[ दयितकरग्रहलुलितो धम्मिल्लः सीधुगन्धितं वदनम् ।
मदने एतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥ ]

प्रियतमके करग्रहणके कारण शिथिलबद्ध केशबन्ध ( जूड़ा ) एवं मदिराके गंधसे आमोदित वदन—इतना शृंगार ही तरुणियोंके मदनोत्सवमें चित्तहारी होता है ॥ ४४ ॥

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति छेआणँ थणहरिल्लीओ।
मअणे कुसुम्भरआिअकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥
[ ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति विदग्धानां स्तनभारवत्यः ।
मदने कुसुम्भरागयुक्तकञ्चुकाभरणमात्राः ॥ ]

मदनोत्सवमें कुसुम्भरञ्जित कञ्चुकि मात्र आभरणरूपमें पहनकर, स्तनभारवती ग्रामतरुणियाँ विदग्ध जनोंके हृदयको हर रही हैं ॥ ४५ ॥

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥
[ आलोकयन्दिशः श्वसञ्जृम्भमाणो गायन्रुदन् ।
मूर्च्छन्पतन्स्खलन्पथिक किं ते प्रवसितेन ॥ ]

अरे पथिक, दिशाओंकी ओर देखकर ही तुम्हारे श्वास, जँभाई, गान या गमन, रोदन, मूर्च्छा, पतन एवं स्खलन हो रहे हैं—तुम्हारे प्रवासगमन से क्या प्रयोजन ? ॥ ४६ ॥

दट्ठूण तरुणसुरअं विविहविलासेहिँ करणसोहिल्लं ।
दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तेल्लं ण लक्खेइ ॥ ४७ ॥
[ दृष्ट्वा तरुणसुरतं विविधविलासैः करणशोभितम् ।
दीपोऽपि तद्गतमना गतमपि तैलं न लक्षयति ॥ ]

विविधविलासपूर्ण एवं कामशास्त्रोक्त बन्धनकरणादिद्वारा शोभित तरुण-तरुणीका सुरत देखकर उसमें लिप्त चित्तने भी नहीं देखा कि तेल निःशेष हो गया है ॥ ४७ ॥

पुणरुत्तकरप्फालणउहअतडुल्लिहरणपहुणसआइं ।
जूहाहिवस्स माए पुणो वि जइ णम्मआ सहइ ॥ ४८ ॥
[ पुनरुक्तकरास्फालनोभयतटोल्लिखनपीडनशतानि ।
यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥ ]

हे माता, न जाने, नर्मदा ( नदी, नर्मदा सुखदात्री ) नायिका यूथपति (गजपति, गोष्ठीनायक ) के बारबार करके ( शुण्ड, हस्त ) शत-शत ताड़न ( कटाव ), उभय तट ( कूल, किनारे ) शत-शत उत्खनन एवं शत-शत पीड़न सहन कर सकेगी या नहीं ॥ ४८ ॥

थोडसुणओ विअण्णो, अत्ता मत्ता, पई वि अण्णत्थो ।
फलिहं व मोडिअं महिसएण, को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥
[ दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूर्मत्ता पतिरप्यन्यस्थः ।
कार्पासमपि मग्नं महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥ ]

गृहरक्षक दुष्ट कुत्ता मर गया है, सास उन्मादरोगसे ग्रस्त है, पति परदेश गया हुआ है—भैंसने जो कार्पासका खेत नष्ट कर दिया है, कोई नहीं है जो उसे बता दे ॥ ४९ ॥

सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णं ।
थोअं थोअं रोसोसहं व उअ माणिणी मइरं ॥ ५० ॥
[ सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति प्रियमुखवितीर्णाम् ।
स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥ ]

देखो, प्रियतम द्वारा बाल पकड़ कर बलपूर्वक ऊपर उठाये गए मुँहवाली मानिनी प्रियतमके मुख द्वारा दी हुई मदिराको रोषनिवारक औषधिके रूपमें धीरे-धीरे पी रही है ॥ ५० ॥

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहाइ लिहइ संतत्तो ।
महिसस्स कद्दयत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालं ॥ ५१ ॥
[ गिरिस्रोत इति भुजंगं महिषो जिह्वया लेढि संतप्तः ।
महिषस्य कृष्णप्रस्तरझर इति सर्पः पिबति लालाम् ॥ ]

ग्रीष्म सन्तापसे सन्तप्त बैल गिरिका स्रोत समझकर सर्पको जिह्वासे चाट रहा है, एवं सर्प भी काले पत्थरका झरना समझकर उसका लार पी रहा है ॥

पञ्जरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ रइहराहिन्तो ।
वीसम्भजम्पिआइं एसा लोआणँ पअडेइ ॥ ५२ ॥
[ पञ्जरशारीं मातुलानि न नयसि किमत्र रतिगृहात् ।
विस्रम्भजल्पितान्येषा लोकानां प्रकटयति ॥ ]

अरी सास, इस पञ्जरबद्ध सारिकाको रतिगृहसे अन्यत्र हटा क्यों नहीं देती ? यह औरों के सम्मुख गोपनीय वचनोंको प्रकट कर देती है ॥ ५२ ॥

एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्ख त्ति कीस मं भणसि ।
धम्मिअ करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं ॥ ५३ ॥
[ एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति न किमिति मां भणसि ।
धार्मिक करञ्जभञ्जक यज्जीवसि तदपि ते बहुकम् ॥ ]

हे करञ्ज-शाखाभङ्गकारी धर्मात्मा, इतने बड़े ग्राममें मुझसे ही क्यों कह रहे हो कि 'भिक्षा नहीं मिलती' ? करञ्जशाखा-भङ्ग होनेके बाद जो जीवित हैं—यही तुम्हारे लिए बहुत है ॥ ५३ ॥

जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तं ।
अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ ॥ ५४ ॥
[ यान्त्रिक गुडं विमार्गयसे न च ममेच्छया वाहयसि यन्त्रम् ।
अरसिक किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥ ]

अरे यन्त्रचालक, ( वेतनके बदले ) गुड़ चाहते हो ? ऊपरसे हमारे इच्छानुसार यन्त्र नहीं चला सकते । अरे अरसिक, क्यों, नहीं जानते कि रसके बिना गुण पैदा नहीं होता ॥ ५४ ॥

पत्तणिअम्बप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्गीए ।
जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥
[ प्राप्तनितम्बस्पर्शाः स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्ग्याः ।
जलबिन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥ ]

स्नानोत्तीर्णा श्यामलाङ्गीके कुन्तल केशसमूह नितम्बके स्पर्शसुखको पाकर जैसे बन्धनके भयसे स्नान जलबिन्दुओंके बहाने रो रहे हैं ॥ ५५ ॥

गामङ्गणणिअडिअकङ्कवस्स थड तुज्झ दूरमणुलग्गो ।
तित्तिल्लपडिक्खकभोइओ वि गामो ण उव्विग्गो ॥ ५६ ॥

[ ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्णपक्ष वट तव दूरमनुलग्नः ।
दौः सन्धिकप्रतीक्षकभोगिकोऽपि ग्रामो नोद्विग्नः ॥ ]

हे वटवृक्ष, तुमने गाँवके आँगनमें कृष्णपक्षका अन्धकार बाँध रखा है। तुमसे दूर रहकर गाँवका रहनेवाला उद्विग्न नहीं होता, यद्यपि भोगासक्त कामियोंकी द्वारपाल प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ५६ ॥

सुप्पं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो ।
अत्ता वि घरे कुविआ भूआणँ व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[ शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टाः स युवातिक्रान्तः ।
श्वश्रूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥ ]

सूप भी जल गया, चना भी भुना नहीं, वह युवक भी चला गया, सास भी घरमें कुपित हो गई। किन्तु श्रुतिविकल भूतके सामने जैसे बाँसुरी बजाई गई अर्थात् उसकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं ॥ ५७ ॥

पिसुणन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लिं ।
कण्डइअकवोलुप्फुल्लणिच्चलच्छीइँ वअणाइं ॥ ५८ ॥

[ पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम् ।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥ ]

कामिनियोंका कण्टकित कपोलविशिष्ट एवं उत्फुल्ल निश्चल नेत्रसमन्वित वदनसमूह, जलमें निलीन प्रियतमोंके आलिङ्गनसे उत्पन्न सुखकी क्रीडा सूचित कर रहे हैं ॥ ५८ ॥

अहिणवपाउसरसिएसु सोहइ साआइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीवाणँ णच्चिअं मोरवुन्दाणं ॥ ५९ ॥

[ अभिनवप्रावृड्रसितेषु शोभते श्यामायितेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥ ]

वर्षाके नये बादलोंके गर्जनसे समन्वित श्यामायमान दिवसोंमें आनन्दवश उद्ग्रीवित ग्रीव मयूरोंका नृत्य शोभा पा रहा है। ( दिनमें ही सङ्केतस्थान अभिसारयोग्य हो गया है। ) ॥ ५९ ॥

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिङ्गाहअं सिमिसिमन्तं ।
आहअवीणाझंकारसद्दमुहलं मसअवुन्दं ॥ ६० ॥

[ महिषस्कंधविलग्नं घूर्णते शृङ्गाहतं सिमसिमायमानम्।
आहतवीणाझंकारशब्दमुखरं मशकवृन्दम् ॥ ]

भैंसोंके कन्धेपर लगे मशकवृन्द सींगों द्वारा आहत होनेपर सिम्-सिम् शब्द करते-करते आहत वीणाके झङ्कारकी ध्वनिकी भाँति मुखर हो घूम रहे हैं॥

रेहन्ति कुमुअदलणिच्चलट्ठिआ मत्तमहुअरणिहाआ।
ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स ॥ ६१ ॥
[ राजन्ते कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः।
शशिकरनिःशेषप्रणाशितस्य ग्रन्थय इव तिमिरस्य ॥ ]

उदयके अनन्तर चन्द्रकिरणों द्वारा अशेष भावसे नाशित अन्धकारकी ग्रंथिसमूहकी भाँति प्रतीयमान मत्तमधुकरनिकर कुमुद-दलके ऊपर निश्चल भावसे बैठकर शोभा पा रहा है ॥ ६१ ॥

उअह तरुकोडराओ णिक्कन्तं पुंसुआणँ रिञ्छोलिं।
सरिए जरिओ व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिअं वमइ ॥ ६२ ॥
[ पश्यत तरुकोटरान्निष्क्रान्तां पुंशुकानां पङ्क्तिम्।
शरदि ज्वरित इव द्रुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ॥ ]

देखो, वृक्षकोटरसे पुंशुकोंकी पंक्ति निकल रही है। जान पड़ता है कि शरतमें ज्वराक्रान्त वृक्ष रक्तमिश्रित पित्तकी उलटी कर रहा है ॥ ६२ ॥

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअपक्खा णिउञ्चिअग्गीवा।
वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति ॥ ६३ ॥
[ धाराधाव्यमानमुखा लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः।
वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिन्ना इव दृश्यन्ते ॥ ]

खेतकी वृतिवेष्टन ( मेड़ ) के ऊपर बैठकर वृष्टि धारा द्वारा धोया हुआ मुख, लम्बे पङ्ख एवं फैले हुए ग्रीववाले कौए शूल द्वारा सम्यक् बिद्ध जैसे प्रतीत होते हैं ॥ ६३ ॥

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं।
जह दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्झत्थभणिएहिं ॥ ६४ ॥
[ नापि तथा नालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम्।
यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः ॥ ]

मानिनीने बात न कर मुझे जितना कष्ट नहीं दिया है उससे कहीं अधिक

कष्ट दिया है—बहुत दूरपर्यन्त गुरुकोपविशिष्ट उदासीन वचन द्वारा ॥ ६४ ॥

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्ककलम्बाणँ वाहभरिअच्छ ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥६५॥
[ गन्धमाजिघ्रन्पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष ।
आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥ ]

हे युवा-पथिक, पके हुए कदम्बकी सुगन्ध सूँघकर तुम्हारे नेत्र वाष्पपूर्ण हो गए हैं। तुम आश्वस्त होओ, गृहिणीका मुँह शीघ्र नहीं दिखेगा, ऐसा नहीं है ॥ ६५ ॥

गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥
[ गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥ ]

हे जलधर, अपनी सारी शक्ति बटोरकर तुम मेरे लोहे जैसे कठोर हृदय पर गरजो। किन्तु अरे मेघ, लम्बकेश-शोभिनी उस बेचारी कामिनीको मत मारना ॥ ६६ ॥

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥
[ पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।
आनन्द्यतेहालिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥ ]

पङ्कमलिन, केवल दुग्धपानकारी एवं घुटनों द्वारा चलनेवाले पुत्रकी भाँति पङ्कमलिन, केवल जलपायी एवं जानुस्थानीय ( धान्य ) मृणालग्रन्थि धारणशील शालि ( धान्य ) क्षेत्रद्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है ॥ ६७ ॥

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुअइ व साली तुसारेण ॥ ६८ ॥
[ कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।
अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुषारेण ॥ ]

मेरे परिणति-कालमें अर्थात् पक्वावस्थामें खलिहान एवं दुष्ट जन खलका संग कैसे होगा—यह चिन्ताकर मुख नीचेकर शूक सहित ( धान्य कटक एवं शोक ) शालिधान्य तुषारके बहाने जैसे रो रहा है ॥ ६८ ॥

संझाराओरथइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो।
रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहुए ॥ ६९॥
[ संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः।
रक्तदुकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥ ]

रक्तवर्ण वस्त्रद्वारा आवृत नववधूके स्तनके ऊपरके नखचिह्नकी नाईं प्रतिपदाका चन्द्र आकाशमें संध्यारागमें अस्तहित दिखायी पड़ रहा है ॥ ६९ ॥

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडिं ॥ ७० ॥
[ अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि।
जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम् ॥ ]

हे देवर, आकाशकी ओर व्यर्थ ही दृष्टिपात क्यों कर रहे हो? जायाके बाहुमूल प्रदेशमें ( नखक्षतोत्पादित ) अर्द्धचन्द्रोंको क्यों नहीं देखते? ७० ॥

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥ ७१ ॥
[ वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे।
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥ ]

वाक्य द्वारा और क्या कहा जाय? पत्रमें भी कितना लिखा जाय? तुम्हारे विरहमें कितना दुःख है, यह तुम भली प्रकार समझ पा रहे हो ॥ ७१ ॥

मअणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिंच्छिं व लोअदिट्ठीए।
जोव्वणधअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारं ॥ ७२ ॥
[ मदनाग्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकामिव लोकदृष्टेः।
यौवनध्वजमिव मुग्धा वहति सुगन्धं चिकुरभारम् ॥ ]

मुग्धा रमणी मदनाग्निके धूएँ की भाँति, लोगोंके नयनोंको मुग्ध करनेकी ऐन्द्रजालिक पिच्छिकाकी भाँति यौवनकी ध्वजाकी भाँति, सुगन्धित केशोंका भार वहन कर रही है ॥ ७२ ॥

रूअं सिट्ठं चिअ से असेसपुरिसे णिअत्तिअच्छेण।
बाहोल्लेण इमीए अजम्पमाणेण वि मुहेण ॥ ७३ ॥
[ रूपं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण।
बाष्पार्द्रेणास्या अजल्पतापि मुखेन ॥ ]

कष्ट दिया है—बहुत दूरपर्यन्त गुरुकोपविशिष्ट उदासीन वचन द्वारा ॥ ६४ ॥

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्ककलम्बाणँ वाहभरिअच्छ ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥६५॥
[ गन्धमाजिघ्रन्पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष ।
आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥ ]

हे युवा-पथिक, पके हुए कदम्बकी सुगन्ध सूँघकर तुम्हारे नेत्र बाष्पपूर्ण हो गए हैं। तुम आश्वस्त होओ, गृहिणीका मुँह शीघ्र नहीं दिखेगा, ऐसा नहीं है ॥ ६५ ॥

गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥
[ गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥ ]

हे जलधर, अपनी सारी शक्ति बटोरकर तुम मेरे लोहे जैसे कठोर हृदय पर गरजो। किन्तु अरे मेघ, लम्बकेश-शोभिनी उस बेचारी कामिनीको मत मारना ॥ ६६ ॥

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥
[ पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।
आनन्द्यतेहालिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥ ]

पङ्कमलिन, केवल दुग्धपानकारी एवं घुटनों द्वारा चलनेवाले पुत्रकी भाँति पङ्कमलिन, केवल जलपायी एवं जानुस्थानीय ( धान्य ) मृणालग्रन्थि धारणशील शालि ( धान्य ) क्षेत्रद्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है ॥ ६७ ॥

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुअइ व साली तुसारेण ॥ ६७ ॥
[ कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।
अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुषारेण ॥ ]

मेरे परिणति-कालमें अर्थात् पक्वावस्थामें खलिहान एवं दुष्ट जन खलका संग कैसे होगा—यह चिन्ताकर मुख नीचेकर शूक सहित ( धान्य कटक एवं शोक ) शालिधान्य तुषारके बहाने जैसे रो रहा है ॥ १८ ॥

संझाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो।
रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहूए॥ ६९॥
[ संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः।
रक्तदुकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः॥ ]

रक्तवर्ण वस्त्रद्वारा आवृत नववधूके स्तनके ऊपरके नखचिह्नकी नाईं प्रतिपदाका चन्द्र आकाशमें संध्यारागमें अन्तर्हित दिखायी पड़ रहा है॥ ६९॥

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडिं॥ ७०॥
[ अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि।
जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम्॥ ]

हे देवर, आकाशकी ओर व्यर्थ ही दृष्टिपात क्यों कर रहे हो? जायाके बाहुमूल प्रदेशमें ( नखक्षतोत्पादित ) अर्द्धचन्द्रोंको क्यों नहीं देखते? ७०॥

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो॥ ७१॥
[ वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे।
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः॥ ]

वाक्य द्वारा और क्या कहा जाय? पत्रमें भी कितना लिखा जाय? तुम्हारे विरहमें कितना दुःख है, यह तुम भली प्रकार समझ पा रहे हो॥ ७१॥

मअणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिच्छि व लोअदिट्ठीए।
जोव्वणधअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारं॥ ७२॥
[ मदनाग्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकामिव लोकदृष्टेः।
यौवनध्वजमिव मुग्धा वहति सुगन्धं चिकुरभारम्॥ ]

मुग्धा रमणी मदनाग्निके धूएँ की भाँति, लोगोंके नयनोंको मुग्ध करनेकी ऐन्द्रजालिक पिच्छिकाकी भाँति यौवनकी ध्वजाकी भाँति, सुगन्धित केशोंका भार वहन कर रही है॥ ७२॥

कह सिट्ठं चिअ से असेसपुरिसे णिअत्तिअच्छेण।
बाहोल्लेण इमीए अजम्पमाणेण वि मुहेण॥ ७३॥
[ कथं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण।
बाष्पार्द्रेणास्या अजल्पतापि मुखेन॥ ]

अन्य सभी पुरुषोंसे लौटा हुआ नेत्र, उसके रूपस्मृति वाष्पार्द्र एवं कुछ भी न वर्णन करनेवाला उस नायिकाका मुखड़ा ही उस ( नायक ) के रूपको बता देता है ॥ ७६ ॥

रुन्दारविन्दमन्दिरमअरन्दाणन्दिआलिरिञ्छोली ।
झणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥ ७४ ॥
[ बृहदरविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपङ्क्तिः ।
झणझणायते कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥ ]

बड़े-बड़े पद्मरूपमन्दिरमें मधुपानसे आनन्दित भ्रमरकुल, मधुमासलक्ष्मीकी कृष्णमणिरचित मेखला ( करधनी ) की नाईं झनझना रहे हैं ॥ ७४ ॥

कस्स करो बहुपुण्णप्फलेक्कतरुणो तुहं विसम्मिहइ ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ॥ ७५ ॥
[ कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरोस्तव विश्रमिष्यति ।
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलश इव प्ररोह ॥ ]

बहुतसे पुण्यफलोंके एकमात्र वृक्षकी भाँति किस सुकृती पुरुषका हाथ, कामदेवके स्थापनकलशसरीखे तुम्हारे विशालस्तनद्वयके ऊपर नवपल्लवकी भाँति स्थान प्राप्त करेगा ? ॥ ७५ ॥

चोरा सभअसतहं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ ।
अहिरक्खिअणिहिकलसे व्व पोढवइआयणुच्छङ्गे ॥ ७६ ॥
[ चोराः सभयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः ।
अहिरक्षितनिधिकलश इव प्रौढपतिकास्तनोत्सङ्गे ॥ ]

सर्परक्षित स्थापन कलशकी भाँति, प्रौढपतिका कामिनीके स्तनोत्सङ्गमें ( धनापहरण करनेवाले चोरकी भाँति ) चोरगण डर-डरकर लालसासहित बार-बार दृष्टिपात कर रहे हैं ॥ ७६ ॥

उव्वहइ णवतणङ्कुररोमञ्चपसाहिआइँ अंगाइँ ।
पाउसलच्छीअ पओहरेहिँ परिपेल्लिओ विञ्झो ॥ ७७ ॥
[ उद्वहति नवतृणाङ्कुररोमाञ्चप्रसाधिताऽन्यङ्गानि ।
प्रावृड्लक्ष्म्या पयोधरैः परिप्रेरितो विन्ध्य ॥ ]

वर्षालक्ष्मीके पयोधर, मेघदर्शनसे उत्तेजित हो विन्ध्यपर्वतके नवतृणाङ्कुरके रूपमें रोमाञ्चद्वारा प्रसाधित अङ्गोंको धारण कर रहे हैं ॥ ७७ ॥

आम बहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं ।
अण्णणईणँ वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥
[ सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम् ।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि ॥ ]

यह सच है कि और नदियोंके पास भी तटविस्तृत वनोंकी पंक्ति है, शब्द-मुखर जलरंकु पक्षीगण एवं सुशीतल जल विद्यमान है, तथापि रेवा ( नर्मदा ) नदीका और भी कोई-कोई सा अतिरिक्त गुण भी है ॥ ७८ ॥

पइ इमीअ णिअच्छइ परिणअमालूरसच्छहे थणए ।
तुङ्गे सप्पुरिसमणोरहे व्व हिअए अमाअन्ते ॥ ७९ ॥
[ आगच्छतास्या निरीक्षस्व परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ ।
तुङ्गौ सत्पुरुषमनोरथाविव हृदये अमान्तौ ॥ ]

आओ एवं सत्पुरुषोंके मनोरथकी माँति इस रमणीके हृदयदेश (वक्षस्थल) में अमान्त ( विपुल अथवा मानके अनुपयोगी ) तुङ्ग एवं पके हुए विम्बफल जैसे स्तनद्वयको निरखो ॥ ७९ ॥

हत्थाहत्थिं अहमहमिआइ वासागमम्मि मेहेहिं ।
अव्वो किं पि रहस्सं छण्णं पि णहङ्गणं गलइ ॥ ८० ॥
[ हस्ताहस्ति अहमहमिकया वर्षागमे मेघैः ।
आश्चर्यं किमपि रहस्यं छन्नमपि नमोङ्गणं गलति ॥ ]

अहो आश्चर्यका विषय यही है कि वर्षागममें अहंकारवश हाथोंहाथ मिले हुए मेघ-घटाद्वारा आच्छन्न होनेपर भी आकाशरूपी आँगन गिरा पड़ रहा है ॥

केत्तिअमेत्तं होहिइ सोहग्गं पिअअमस्स भमिरस्स ।
महिलामअणछुहाउलकडक्खविक्खेवघेप्पन्तं ॥ ८१ ॥
[ कियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्य प्रियतमस्य भ्रमणशीलस्य ।
महिलामदनक्षुधाकुलकटाक्षविक्षेपग्राह्यमाणम् ॥ ]

अन्यान्य नारीके लिए भ्रमणशील प्रियतमका सुभगत्व कितनी देर टिकेगी? कारण, महिलाएँ केवल मदनक्षुधासे आकुल कटाक्षपातद्वारा ही इसे वशमें लाना चाहती हैं ॥ ८१ ॥

णिअधणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन झत्ति पडिवुद्ध ।
परवसइवाससङ्किर णिअए वि घरम्मि, मा भासु ॥ ८२ ॥

[ निजगृहिणीमुपगूहस्व कुक्कुटशब्देन झटिति प्रतिबुद्ध ।
परवसतिवासशङ्किलज्जकेऽपि गृहे मा भैषीः ॥ ]

कुक्कुटरव ( मुर्गेकी बोली ) से झट ही उठ पड़ो एवं अपनी गृहिणीका आलिङ्गन करो। अरे ओ दूसरेके घर रहनेमें सङ्कोची, अपने घरमें देखो भय न करना ॥ ८२ ॥

खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स ।
धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥ ८३ ॥
[ खरपवनरयगलहस्तितगिरिकूटापतनभिन्नदेहस्य ।
धुकधुकायते जीव इव विद्युत्कालमेघस्य ॥ ]

प्रचण्ड पवनद्वारा गलासे हाथद्वारा खिसकाये जाकर, गिरिकूट ( गिरिशिखर ) से गिरकर अत्यन्त क्षीण देह कालमेघजीव या प्राणकी भाँति बिजली धुक् धुक्कर काँप रही है ॥ ८३ ॥

मेहमहिसस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिण्णस्स ।
कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥
[ मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिन्नस्य ।
क्रन्दतः सवेदनमन्त्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥ ]

प्रतीत होता है कि इन्द्रधनुषकी कोटिद्वारा उत्पाटित होकर वेदनावश क्रन्दनशब्दकारी मेघरूप महिषके उदरस्थित अन्त्रकी भाँति विद्युली लम्बमान हो रही है ॥ ८४ ॥

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेच्छन्ति चूअरुक्खस्स ।
कामस्स लोहिउप्पङ्कराइअं हत्थभल्लं व ॥ ८५ ॥
[ नवपल्लवं विषण्णा पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।
कामस्य लोहितसमूहराजितं हस्तभल्लमिव ॥ ]

विरह विषादयुक्त पथिक आम्रवृक्षके नूतनपल्लवकी ओर रक्तरेखाद्वारा शोभित कामदेवका हस्तस्थित भाला समझकर दृष्टिपात कररहा है ॥ ८५ ॥

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा ।
दोतिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥
[ महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विताः पुरुषाः ।
द्वे त्रिणी यावन्न म्रियन्ते तावन्न विरहाः समाप्यन्ते ॥ ]

पुरुष जो प्रवासके सम्बन्धमें इतने गर्वका अनुभव करते हैं—यह महिलाओंका ही दोष है। जब तक महिलाओंमेंसे दो-तीन मर नहीं जायँगी तब तक विरहकी समाप्ति नहीं होगी ॥ ८६ ॥

बालअ दे वच्च लहुं मरइ वराई अलं विलम्बेण ।
सा तुज्झ दंसणेण वि जीविज्जइ णत्थि संदेहो ॥ ८७ ॥
[ बालक हे व्रज लघु म्रियते वराकी अलं विलम्बेन ।
सा तव दर्शनेनापि जीविष्यति नास्ति संदेहः ॥ ]

हे प्रमाणभिज्ञ बालक, शीघ्र चलो, वराकी (दयनीया) रमणी मरी जा रही है, विलम्ब करने का प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे दर्शन पाकर वह बच जायगी, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८७ ॥

तम्बिरपसरिअहुअवहजालालिपलीविए वणाहोए ।
किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्धहरिणो ण णिक्कमइ ॥ ८८ ॥
[ ताम्रवर्णप्रसृतहुतवहज्वालावलिप्रदीपिते वनाभोगे ।
किंशुकवनमिति कलयित्वा मुग्धहरिणो न निष्क्रामति ॥ ]

ताम्रवर्ण होकर विस्तृत अग्निशिखासमूह द्वारा प्रज्वलित वनप्रान्तको भ्रमवश किंशुककानन समझकर मुग्ध हरिण निकल नहीं रहा है। विनाशके कारणको ही सुखका हेतु समझकर मुग्धजन प्रेयसीको छोड़ नहीं सकते ॥ ८८ ॥

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥ ८९ ॥
[ निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्लपितमस्माकं गुरुपुरतः ।
यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥ ]

हे माता, शारिकाने गुरुजनोंके सम्मुख हम लोगोंके सुरतशिल्पकी कहानी इस प्रकार कह दी थी कि उस समय मैं लज्जासे कहाँ छिप जाऊँ यह समझमें नहीं आया ॥ ८९ ॥

पच्चग्गफुल्लदलुल्लसन्तमअरन्दपाणलेहलओ ।
तं णत्थि कुन्दकलिआइ जं ण भमरो महइ काउं ॥ ९० ॥
[ प्रत्यग्रोत्फुल्लदलोल्लसन्मकरन्दपानलुब्धः ।
तन्नास्ति कुन्दकलिकाया यन्न भ्रमरो वाञ्छति कर्तुम् ॥ ]

नवप्रस्फुटितदलविशिष्ट कुन्दकुसुम उल्लसित मधुपानमें लोलुप हो भौंरा कुन्दकलिकासे सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता ऐसा काम नहीं है ॥ ९० ॥

सो को वि गुणाइसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए।
अच्छीहिँ च्चिअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेहिं ॥ ९१ ॥

[ स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मातुलानि कुन्दलतिकायाः।
अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः ॥ ]

हे मामी, मैं नहीं जानती कि कुन्दलतिकाका यह गुणोत्कर्ष कितना है। कारण, भौरोंने मुख द्वारा नहीं केवल नयनसे ही इसे पीनेकी अभिलाषाकी है ॥ ९१ ॥

एक्क च्चिअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो ॥ ९२ ॥

[ एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति।
अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः ॥ ]

ग्रामनायककी पुत्री अकेले ही इतना रूप एवं गुण धारण कर रही है कि सारे ग्रामवासी अपलक नयन विशिष्ट हो देवता बनकर खड़े हो गए हैं ॥ ९२ ॥

मण्णे आसाओ च्चिअ ण पाविओ पिअअमाहररसस्स।
तिअसेहिँ जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअं ॥ ९३ ॥

[ मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य।
त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धृतम् ॥ ]

मुझे प्रतीत होता है कि देवताओंने प्रियतमाके अधररसका स्वाद नहीं पाया है, इसीसे उन्होंने समुद्रसे अमृत निकाला है ॥ ९३ ॥

आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए।
अद्दंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ॥ ९४ ॥

[ आकर्णाकृष्टनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या।
अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥ ]

व्याधके कान तक आकृष्ट तीक्ष्ण भाले द्वारा आहत होकर भी हरिणी (प्रेमवश) 'मेरा प्रिय दर्शनके अगोचर होगा' ऐसा सोचकर कन्धेको टेढ़ाकर बहुत देरतक निहारने लगी ॥ ९४ ॥

विसमट्ठिअपिक्ककेक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए।
को को ण परिथओ पहिआअं डिम्भे रअन्तम्मि ॥ ९५ ॥

[ विषमस्थितपक्वैकाम्रदर्शने तव शतुगृहिण्या ।
कः को न प्रार्थितः पथिकानां डिम्भे रुदति ॥ ]

विषम शाखाग्र पर स्थित केवल एक आम्रफलको देखकर शिशु पुत्रके रोने लगने पर, तुम्हारी शत्रु-गृहिणीने आम गिरानेके लिए किस किस पथिककी विनती नहीं की ॥ ९५ ॥

मालारी ललिउल्लुलिअबाहुमूलेहिँ तरुणहिअआइँ ।
उल्लूरइ सज्जुल्लूरिआइँ कुसुमाइँ दावेन्ती ॥ ९६ ॥
[ मालाकारी ललितोल्लुलितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।
उल्लुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती ॥ ]

मालिनी तुरत तोड़े गए कुसुमको दिखाने जाकर अपने सुन्दर एवं विशाल स्तनद्वारा युवकोंके हृदयको व्याकुल कर रही है ॥ ९६ ॥

मज्झो, पिओ, कुडण्डो, पल्लिजुआणा, सवत्तीओ ।
जह जह वड्ढन्ति थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्च वाहीए ॥ ९७ ॥
[ मध्यः प्रियः कुटुम्बं पल्लीयुवानः सपत्न्यः ।
यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याध्याः ॥ ]

व्याधपत्नीके दोनों स्तन जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे पाँच वस्तुएँ क्षीण होती जा रही हैं—उसकी कटि, उसका प्रियतम, उसका कुटुम्ब, गाँवके युवक एवं उसकी सपत्नियाँ ॥ ९७ ॥

मालारीए वेल्लहलबाहुमूलावलोअणसअह्णो ।
अलिअं पि भमइ कुसुमग्घपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥ ९८ ॥
[ मालाकार्याः सुन्दरबाहुमूलावलोकनसतृष्णः ।
अलीकमपि भ्रमति कुसुमार्घप्रश्नशीलः पांसुलयुवा ॥ ]

मालिनके सुन्दर स्तनयुगल देखनेकी लालसामें परस्त्रीलम्पट युवक झूठमूठ फूलोंका मूल्य पूछता हुआ घूम रहा है ॥ ९८ ॥

अकअण्णुअ घणवण्णं घणवण्णन्तरिअतरणिअरणिअरं ।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो सरसि ॥ ९९ ॥
[ अकृतज्ञ घनवर्णं घनपर्णान्तरिततरणिकरनिकरम् ।
यदि रे रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि ॥ ]

रे रे अकृतज्ञ, जो बेंतकुञ्ज मेघ जैसे साँवले, रह एवं जहाँ सूर्यकिरण

घने पल्लवसमूहोंसे आच्छादित हैं, उस वेतकुञ्जको यदि स्मरण न भी कर सको तो क्या तुम रेवा (नर्मदा) नदीका जल भी स्मरण नहीं कर सकते ? ९९॥

मन्दं पि ण आणइ हलिअणन्दणो इह हि डड्ढगाममिम ।
गहवइसुआ विवज्जइ अवेज्जए कस्स साहामो ॥ १०० ॥
[ मन्दमपि न जानाति हलिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे ।
गृहपतिसुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयामः ॥ ]

इस वैद्य शून्य जले गाँवमें गृहपतिकी नन्दिनी चिकित्साके अभावमें विपाद-युक्त हो जायेगी—हलिकनन्दन ( जामाता ) यह तनिक भी नहीं समझ रहा है—किससे यह बात कहूँ ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मिइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं सट्ठं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

रसिकजनोंके हृदयकी अतिप्रिय एवं कविवत्सल प्रमुख सुकविगण द्वारा रचित सप्तशतीमें यह षष्ठ गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

# सप्तम शतक

अण्णोण्णपरिक्खलणपहारसँमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।
वाहेण मण्णुविअलन्तबाहधोअं धणुं मुक्कं॥ १॥
[ अन्योन्यपरिरक्षणप्रहारसंमुखे कुरङ्गमिथुने।
व्याधेन मन्युविगलद्बाष्पधौतं धनुर्मुक्तम्॥ ]

मृग-मृगीको परस्पर रक्षाके निमित्त प्रहारके सम्मुख होते देखकर व्याधने करुणावश विगलित बाष्पद्वारा धौत ( सिक्त ) धनुषको छोड़ दिया॥ १॥

ता सुहअ विलम्ब खणं भणामि कीअ वि कएण अलमहव वा।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सं॥ २॥
[ तत्सुभग विलम्बस्व क्षणं भणामि कस्या अपि कृतेनालमथ वा।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि॥ ]

हे सुभग, थोड़ी देर रुको, एक स्त्रीके सम्बन्धमें तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ, या कहनेका क्या काम? बिना विचारे कार्यको प्रारंभ करनेवाली वह मारी जाय तो मारी जाय, उसके लिए तुम्हें मैं कुछ नहीं कहूँगी॥ २॥

भोइणिदिण्णपहेणअचविरमदुस्सिक्खिओ हलिअउत्तो।
पत्ताहे अण्णपहेणआणं छीओल्लअं देइ॥ ३॥
[ भोगिनीदत्तप्रहेणकास्वादनदुःशिक्षितो हलिकपुत्रः।
इदानीमन्यप्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति॥ ]

ग्रामीण व्यापारीकी पत्नीद्वारा प्रेषित मोदकादि रूप पायसको खानेमें लालची हलिकपुत्र अन्य लोगोंके भोज्यपदार्थोंकी 'छी छी' कर निन्दा कर रहा है॥ ३॥

पच्चूसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणं।
कमलाणं रअणिविरमे जिअलोअसिरी महमहेइ॥ ४॥
[ प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्राणाम्।
कमलानां रजनिविरामे जीवलोकश्रीर्मघमघायते॥ ]

रजनीके अवसानपर प्रातः किरणावलिका संस्पर्श पाकर प्रस्फुटित दलोंवाले कमल-समूहोंकी लोकविजयिनी शोभा सौरभयुक्त होकर सर्वत्र व्याप्त हो रही है॥

वाउव्वेल्लिअसाउलि थएसु फुडदन्तमण्डलं जहणं।
चडुआरअं पइं मा हु पुत्ति जणहासिअं कुणसु ॥ ५ ॥
[ वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम्।
चटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि जनहास्यं कुरु ॥ ]

अरी वायुके द्वारा उद्वेलित वस्त्रोंवाली, स्फुट भावसे लक्षित पतिके दन्त चिह्नयुक्त जंघोंको ढँक लो। हे पुत्रि, चाटुकार पतिको लोगोंके हास्यका विषय मत बनाओ ॥ ५ ॥

वीसत्थहसिअपरिसक्किआणँ पढमं जलञ्जली दिण्णो।
पच्छा वहूअ गहिओ कुडम्बभारो णिमज्जन्तो ॥ ६ ॥
[ विस्रब्धहसितपरिक्रमाणां प्रथमं जलाञ्जलिर्दत्तः।
पश्चाद्वध्वा गृहीतः कुटुम्बभारो निमज्जन् ॥ ]

वधूने पहले तो मूक हास्यसे और फिर गमनागमनसे जलाञ्जलि दी है, बादमें दुर्गतिप्राप्त कुटुम्बियोंका भार ग्रहण किया है ॥ ६ ॥

गमिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढउ मिअङ्को।
दुद्धे दुद्धं मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे ॥ ७ ॥
[ गमिष्यसि तस्य पार्श्वं सुन्दरि मा त्वरस्व वर्धतां मृगाङ्कः।
दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायां कः प्रेक्षते मुखं ते ॥ ]

हे सुन्दरि, उसके पास जा सकोगी, इतनी शीघ्रताका प्रयोजन नहीं है, चन्द्रमाको और अधिक बढ़ने दो। दूधमें दूधकी तरह, चन्द्रिकामें तुम्हारा मुखड़ा देखनेमें क्या समर्थ होगा ? ॥ ७ ॥

जइ जूरइ जूरउ णाम मामि परलोअवसणिओ लोओ।
तह वि बला गामणिणन्दणस्स वअणे वलइ दिट्ठी ॥ ८ ॥
[ यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलानि परलोकव्यसनिको लोकः।
तथापि बलाद्ग्रामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः ॥ ]

हे मामी, परलोकमें आसक्तिवाले व्यक्ति खिन्न हों तो हों, तथापि ग्राम-नायकके पुत्रके मुखकी ओर मेरी दृष्टि बलपूर्वक पड़ रही है ॥ ८ ॥

गेहं व वित्तरहिअं णिज्झरकुहरं व सलिलसुण्णविअं।
गोहणरहिअं गोट्ठं व तीअ वअणं तुह विओए ॥ ९ ॥

[ गृहमिव वित्तरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।
गोधनरहितं गोष्ठमिव तस्या वदनं तव वियोगे ॥ ]

तुम्हारे विरहमें उसका मुख वित्तरहित ( निर्धन ) गृहकी भाँति सलिल-शून्य निर्झरगह्वरकी भाँति अथवा गोधनरहित गोष्ठ की भाँति प्रतीत हो रहा है ॥ ९ ॥

तुह दंसणेण जणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ ।
दुग्गअमणोरहो विअ हिअअ च्चिअ जाइ परिणामं ॥ १० ॥
[ तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जालुकाया अनुरागः ।
दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥ ]

तुम्हारे दर्शनमें उत्पन्न अनुराग, दरिद्रके मनोरथकी भाँति उस लज्जाशीलके हृदयमें ही समाप्त हो जाता है ॥ १० ॥

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।
अह गिम्हे मह पअई एव्वं भणिऊण ओरुण्णा ॥ ११ ॥
[ या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पृच्छसि हसन् ।
असौ ग्रीष्मे मम प्रकृतिरिति भणित्वावरुदिता ॥ ]

जो रमणी ही कृश हो जाती है, वह क्या तुम्हारे लिए वैसी होती है ? उसी कारण क्या तुम मेरी कृशता के बारे में हँसकर पूछ रहे हो ? 'ग्रीष्मकाल में कृश होना मेरी प्रकृति है' कहकर वह रोने लगी ॥ ११ ॥

वण्णक्कमरहिअस्स वि एस गुणो णवरि चित्तकम्मस्स ।
णिमिसं पि जं ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवऊढो ॥ १२ ॥
[ वर्णक्रमरहितस्याप्येष गुणः केवलं चित्रकर्मणः ।
निमिषमपि यन्न मुञ्चति प्रियो जनो गाढमुपगूढः ॥ ]

वर्ण ( रङ्ग ) विन्यासरहित केवल आलेख्य कर्मका यह गुण दिखायी पड़ता है कि गाढभावसे आलिङ्गित प्रियजन प्रियाको क्षणभरके लिए भी छोड़ते नहीं ॥ १२ ॥

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो ।
उव्वेलिउं ण आणइ खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥ १३ ॥
[ अविभक्तसंधिबन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः ।
उद्वेल्लितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥ ]

पुष्पके प्रथमोद्भिन्न ( प्रथम प्रकट ) रस पीनेका लोलुप हो भ्रमर कलिकाका मुख प्रस्फुटित करना नहीं जानता, अपितु इसके सन्धिबन्धनको विभक्त किये बिना ही खण्डित कर देता है ॥ १३ ॥

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिहुरासु ।
पुरिसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ १४ ॥
[ ईषद्वेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु ।
पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥ ]

विपरीत विहारमें जिन प्रियतमाओंके उरुयुगल ईषत् कम्पमान, नेत्र युगल मुकुलित एवं केशपाश खुले हुए रहते हैं, पुरुषोचित शीला उन्हीं कामिनियोंके लिए कामदेव अस्त्र सज्जित होकर वास करते हैं ॥ १४ ॥

जं जं ते ण सुहाअइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तं ।
अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तं ॥ १५ ॥
[ यद्यत्ते न सुखायते तत्तन्न करोमि यन्ममायत्तम् ।
अहमेव यन्न सुखाये सुभग तत्किं ममायत्तम् ॥ ]

जिन जिनसे तुम्हारा सुख उत्पन्न नहीं होता, वह-वह मैं नहीं करती, कारण वह मेरे वशमें है । हे सुभग, मैं जो सुख अनुभव नहीं करती, वह भी क्या मेरे वशमें है ॥ १५ ॥

वावारविसंवाअं सअलावअवाणँ कुणइ हअलज्जा ।
सवणाणँ उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्झइ णिओअं ॥ १६ ॥
[ व्यापारविसंवादं सकलावयवानां करोति हतलज्जा ।
श्रवणयोः पुनर्गुरुसंनिधावपि न निरुणद्धि नियोगम् ॥ ]

निर्लज्ज ( दग्ध ) लज्जा सभी अवयवोंके व्यवहारमें बाधा पहुँचाती है । किन्तु वह लज्जा गुरुजनोंके समीप भी दोनों कानोंके व्यवहारका निरोध नहीं कर पाती ॥ १६ ॥

किं भणह मं सहीओ मा मर दीसिहइ सो जिअन्तीए ।
कज्जालाओ एसो सिणेहमग्गो उण ण होइ ॥ १७ ॥
[ किं भणथ मां सख्यो मा म्रियस्व द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।
कार्यालाप एष स्नेहमार्गः पुनर्न भवति ॥ ]

अरी सखियो, तुम मुझसे क्या कह रही हो ? 'मरो मत, जीवित रहनेपर

उसे देख पाओगी'—कार्यपर्यालोचनामें तो यह करने योग्य है, किन्तु यह प्रेम-पथ नहीं है ॥ १७ ॥

पक्कलम्मो विद्दीअ मइअ तह पुलइओ सअहाए।
पिअजाअस्स जह धणुं पडिअं वाहस्स हत्थाओ ॥ १८ ॥
[ एकाकी मृगो दृष्या मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया।
प्रियजायस्य यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात् ॥ ]

व्याधका बाण अपने प्रति उद्यत देखकर मृगीने इस प्रकार सतृष्णा नेत्रसे एकाकी मृगकी ओर देखा कि अपनी पत्नीमें अनुरक्त चित्तवाले व्याधके हाथसे धनुष छूट पड़ा ॥ १८ ॥

णलिणीसु भमसि परिमलसि सत्तलं मालइं पि णो मुअसि।
तरलत्तणं तुइ अहो महुअर जइ पाडला हरइ ॥ १९ ॥
[ नलिनीषु भ्रमसि परिमृद्नासि सप्तलां मालतीमपि नो मुञ्चसि।
तरलत्वं तवाहो मधुकर यदि पाटला हरति ॥ ]

हे भ्रमर, तुम नलिनियोंके निकट रहते-फिरते हो। नवमालिकाका मर्दन भी करते हो और मालतीको भी छोड़ते नहीं, अब पाटल पुष्प यदि तुम्हारी यह चित्तचञ्चलता हरणकर सकती ॥ १९ ॥

दो अङ्गुलअकवालअपिणद्धसविसेसणीलकञ्चुइआ।
दावेइ थणत्थलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणं ॥ २० ॥
[ द्व्यङ्गुलकपाटपिनद्धसविशेषनीलकञ्चुकिका।
दर्शयति स्तनस्थलवर्णिकामिव तरुणी युवजनेभ्य ]

दो अँगुली परिमित अवकाशयुक्त, विशेषतः नीले रंगकी कञ्चुकिका पहनकर तरुणी मानो युवकोंको स्तनस्थलसंबंधमें आदर्श प्रदर्शित कर रही है ॥

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती।
अंसुहिं पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ ॥ २१ ॥
[ रक्षति पुत्रकं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती।
अश्रुभिः पथिकगृहिणी आर्द्रीभवन्तं न लक्षयति ॥ ]

अपने छतसे गिरनेवाले जलको अपने मस्तकपर सहनकर पथिककी गृहिणी पुत्रकी रक्षा कर रही है, किन्तु वह जो अपने अश्रुधारसे उसे सींचे देरही है इस ओर उसने लक्ष्य नहीं किया ॥ २१ ॥

सरए सरम्मि पहिआ जलाइँ कन्दोट्टसुरहिगन्धाइं।
धवलच्छाइँ सअण्हा पिअन्ति दइआणँ व मुहाइं॥ २२॥
[ शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलसुरभिगन्धीनि।
धवलस्वच्छानि सतृष्णा पिबन्ति दयितानामिव मुखानि॥ ]

शरत्में पथिक सरोवरमें नीलकमलके सुरभिगन्धविशिष्ट धवल एवं स्वच्छ जलको प्रियतमाओंके ( धवलाक्ष ) मुखके जैसा समझकर सतृष्ण होकर पान कर रहा है। सरोवरका तीर सङ्केतस्थान नहीं होसकती॥ २२॥

अब्भन्तरसरसाओ उवरिं पव्वाअबद्धपङ्काओ।
चङ्कम्मन्तम्मि जणे समुस्ससन्ति व्व रच्छाओ॥ २३॥
[ अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातबद्धपङ्का।
चङ्क्रममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्या॥ ]

लोग आते जाते रहते हैं। इस कारण अभ्यन्तरमें रस ( जल ) युक्त एवं बाहर वायुके प्रभावसे बद्ध पङ्कमार्ग जैसे साँस ले रहे हैं ( दृश्यत रुष्ट होनेपर भी नायिका भीतरसे अनुरागिणी है )॥ २३॥

मुहपुण्डरीअछाआइ संठिआ उअह राअहंसे व्व।
छणपिट्ठकुट्टणुच्छलिअधूलिधवले थणे वहइ॥ २४॥
[ मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव।
क्षणपिष्टकुट्टनोच्छलितधूलिधवलौ स्तनौ वहति॥ ]

देखो, रमणी अपने मुखपद्मकी छायामें संस्थित राजहंसद्वयकी भाँति, उत्सवदिनके पूएकी ढेरसे उछाले हुए धूलिद्वारा धवलित स्तनद्वय वहन कर रही है॥ २३॥

तह तेणवि सा दिट्ठा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी।
जह दोण्ह वि समअं चिअ णिव्वुत्तरआइँ जाआइं॥ २५॥
[ तथा तेनापि सा दृष्टा तयापि तथा तस्मै प्रेषिता दृष्टिः।
यथा द्वावपि सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ॥ ]

वह रमणी उसके द्वारा उसी प्रकार देखी गई, एवं उस युवकके प्रति उस रमणीने भी उसी प्रकार दृष्टिपात किया जिससे एक ही साथ दोनोंका रतिसुख मिला॥ १५॥

वाउलिआपरिसोसण कुडङ्गपत्तलणसुलहसंकेअ।
सोहग्गकणअकसवट्ट गिम्ह मा कह वि झिज्झिहिसि॥ २६॥

[ स्वल्पग्रामिकाप्रशोषक निकुञ्जपत्रस्य सुलभसंकेत ।
सौभाग्यकनककषपट्ट ग्रीष्म मा क्षणमपि क्षीणो भविष्यसि ॥ ]

हे ग्रीष्म, तुम छोटी वापिकाको सुखानेवाले हो, निकुञ्जवनके पत्तोंके उत्पादक हो, तुम्हारी उपस्थितिमें सङ्केतस्थान सुलभ होता है एवं तुम सौभाग्यसुवर्णकी कसौटी सदृश हो, तुम कभी क्षीण मत होना ॥ २६ ॥

दुस्सिक्खिअरअणपरिक्खएहिँ घिट्ठोसि पत्थरे ताव ।
जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मुल्लकहा ॥ २७ ॥
[ दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैर्घृष्टोऽसि प्रस्तरे तावत् ।
यावत्तिलमात्रं वर्तसे मरकत का तव मूल्यकथा ॥ ]

हे मरकत, अनाड़ी रत्नपरीक्षक तुमको तबतक पत्थरपर घिसेंगे, जबतक तुम तिलभरमें पर्यवसित होओगे। अपने मूल्य निर्धारणकी बात तो दूर ही रही ॥ २७ ॥

जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्कइ जह अ तस्स पडिवक्खो ।
बालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पल्ली ॥ २८ ॥
[ यथा चिन्तयति परिजन आशङ्कते यथा च तस्य प्रतिपक्षः ।
बालेनापि ग्रामणीनन्दनेन तथा रक्षिता पल्ली ॥ ]

उसके परिजन जिसप्रकार चिन्तातुर हुए थे एवं उसके शत्रुओंने जिस प्रकारकी आशङ्का प्रकट की थी—ग्रामनायकका पुत्र बालक होनेपर भी गाँवकी उसीप्रकार रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था ॥ २८ ॥

अण्णेसु पहिअ ! पुच्छसु वाहअउत्तेसु पुसिअचम्माइं ।
अम्हं वाहजुआणो हरिणेसु धणुं ण णामेइ ॥ २९ ॥
[ अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृषतचर्माणि ।
अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥ ]

हे पथिक, तुम अन्यान्य व्याधयुवोंके यहाँ पृषत नामक चित्रमृगविशेषके चर्मके सम्बन्धमें पूछो। हमारे व्याधयुवा हरिणोंके ऊपर धनुष नहीं झुकाते ॥

गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एक्ककण्डविणिवाई ।
तह सोण्हाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥
[ गजवधूवैधव्यकरः पुत्रो मे एककाण्डविनिपाती ।
तथा स्नुषया प्रलोकितो यथा काण्डसमूहं वहति ॥ ]

मेरा पुत्र पहले केवल एक बाण चलाकर गजवधुओंको विधवाकर सकता था, किन्तु पुत्रवधू ( पतोहू ) द्वारा इसप्रकार देखा जाता है कि अब वह बाणोंको केवल ढोता है ॥ ३० ॥

विञ्झारुहणालावं पल्ली मा कुणउ गामणी ससइ।
पच्चुज्जिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ३१ ॥
[ विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणीः श्वसिति।
प्रत्युज्जीवितो यदि कथमपि शृणोति तज्जीवितं मुञ्चति ॥ ]

ग्रामवासी कहीं चोरभयसे विन्ध्यपर्वतपर पलायनके लिए चढ़नेका राग न अलापें, ग्रामनायक अभी भी जीवित है, यदि प्राण लौट आनेपर वह किसी प्रकार सुन ले तो प्राणत्यागकर देगा ॥ ३१ ॥

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पयत्तेण।
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ॥ ३२ ॥
[ शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन।
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि ॥ ]

मरता मृतप्राय गाँवका मुखिया यत्नपूर्वक पुत्रको यह उपदेश दे रहा है—इस प्रकार काम करना कि मेरा नाम लेनेपर कोई तुम्हें लज्जित न करे ॥

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्मि।
वेहव्वमण्डणं कुलवहूअ सोहग्गअं जाअं ॥ ३३ ॥
[ अनुमरणप्रस्थितायाः प्रत्यागतजीविते प्रियतमे।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥ ]

प्रियतमके प्राण लौट आनेपर अनुमरणमें व्यस्त कुलवधूका वैधव्यशृङ्गार सौभाग्यशृङ्गारमें परिणत हो गया ॥ ३३ ॥

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठं।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाअं गआ अण्णं ॥ ३४ ॥
[ मधुमक्षिकया दष्टं दृष्ट्वा मुखं प्रियस्योच्छूनोष्ठम्।
ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गतान्याम् ].

मधुमक्षिका द्वारा दंशित प्रियतमके फूले हुए ओठसे युक्त मुखको देखकर ईर्ष्यापरायण जङ्गल निवासी पर्वतीय पुलिन्दपत्नी दूसरे वृक्षकी छायामें चली गयी ॥ ३४ ॥

धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि ।
वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे ॥ ३५ ॥
[ धन्या वसन्ति नि शङ्कमोहने बहलपत्रलवृती ।
वातान्दोलनावनमितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥ ]

जिस ग्राममें वृक्षकी बहलपत्रराजिद्वारा आवेष्टित स्थान है, जो वायुके झोंकेमें अवनमित वेणुवन द्वारा गहन है एवं जहाँ नि शङ्करूपसे सुरतसुख अनुभूत हो सकता है—ऐसे गिरिग्राममें धन्यपुरुष ही निवास करते हैं ॥३५॥

पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा ।
पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्गामा ॥ ३६ ॥
[ प्रोत्फुल्लघनकदम्बा निर्धौत शिलातला मुदितमयूराः ।
प्रसरन्निर्झरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामा ॥ ]

जहाँपर घनसन्निविष्ट कदम्बवृक्ष पुष्पविकाससे उत्फुल्ल, शिलातलसमूह जलद्वारा धौत, मयूरकुलआनन्दित एवं जो झरते हुए निर्झरसमूहसे मुखरित है—वे गिरिग्राम ही मनुष्यको प्रोत्साहित करते हैं ॥ ३६ ॥

तह परिमलिआ गोवेण तेण हत्थं वि जाण ओल्लेइ ।
स च्चिअ घेणू एह्निं पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७ ॥
[ तथा परिमलिता गोपेन तेन हस्तमपि या नार्द्रयति ।
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षस्व कुटदोहिणी जाता ॥ ]

देखो, जो धेनु पहले उस गोपद्वारा उस प्रकार दुहे जाकर भी उसके हाथको भी गीला नहीं कर पाती थी, वही घड़ा भरकर दूध दे रही है ॥ ३७ ॥

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ ।
जिअ तम्बे अम्ह वि जीविएण गोट्ठं तुमाअत्तं ॥ ३८ ॥
[ धवलो जीवति तव कृते धवलस्य कृते जीवन्ति गृष्टय ।
जीव हे गौः अस्माकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥ ]

हे धेनु, तुम्हारे ही सुखके लिए गोरा बैल प्राणधारण करता है एव एकबार प्रसूता धेनुएँ भी उनके सुखके लिए जीवित हैं। तुम बची रहो, अपने जीवनद्वारा तुमने हमलोगोंके गोष्ठको अपने आधीन कर रखा है ॥ ३८ ॥

अग्घाइ छिवइ चुम्बइ ठेवइ हिअअम्मि जणिअरोमञ्चो ।
जाआकवोलसरिसं पेच्छइ पहिओ महुअपुप्फं ॥ ३९ ॥

[ आजिघ्रति स्पृशति चुम्बति स्थापयति हृदये जनितरोमाञ्चः ।
जायाकपोलसदृशं पश्यत पथिको मधूकपुष्पम् ॥ ]

देखो, पथिक जायाके कपोलसदृश मधूकपुष्पको पाकर कभी इसे सूँघ रहा है, छूरहा है, कभी इसे चूम रहा है, एवं कभी रोमाञ्चित शरीरमें इसे अपने वक्षःस्थलपर धारण कर रहा है ॥ ३९ ॥

उअ ओल्लिज्जइ मोहं भुअंगकित्तीअ कडअलग्गाइ ।
ओज्झरधारासद्धालुएण सीसं वणगएण ॥ ४० ॥
[ पश्यार्द्रीक्रियते मोघं भुजङ्गकृत्तौ कटकलग्नायाम् ।
निर्झरधाराश्रद्धालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥ ]

देखो, जंगली हाथी गिरिकटकमें लग्न सर्पत्वचाको निर्झरकी धारा समझकर उसमें अपने मस्तकको आर्द्र करनेकी चेष्टा कर रहा है ॥ ४० ॥

कमलं मुअन्त महुअर पिक्ककइत्थाणँ गन्धलोहेण ।
आलेक्खलड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥
[ कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्वकपित्थानां गन्धलोभेन ।
आलेख्यलड्डुकं पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यसि ॥ ]

हे मधुकर, कमलको छोड़कर पके हुए कपित्थफल ( कैंथ ) की गन्धसे इसे छूकर ही पामर चित्राङ्कित लड्डू स्पर्शकी भाँति इसे तुम समझ सकोगे ॥

गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिँ वरगोत्तदिण्णअण्णाए ।
सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥ ४२ ॥
[ गीयमाने मङ्गलगायिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णायाः ।
श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधूकाया रोमाञ्चः ॥ ]

देखो, मङ्गलगायिकाओंके गान गाते रहनेपर, वरके नामोल्लेखपर ध्यान देनेवाली भावी वधूका रोमाञ्च भी जैसे नामश्रवणके लिए निर्गत होरहा है ॥

मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुग्गाइं ।
तेहिँ जुआणेहिँ समं हसन्ति मं वेअसकुडङ्गा ॥ ४३ ॥
[ मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्गीतम् ।
तैर्युवभिः समं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥ ]

जान पड़ता है कि उन युवकगणके साथ ही साथ बेंत निकुञ्ज समूह भी मेरे आसन्न विहारके मङ्गलगीतको सुनकर मेरा उपहास कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

उअगअचउत्थिमङ्गलहोन्तविओअसविसेसलग्गेहिं ।
तीअ वरस्स अ सेअंसुएहिं रुण्णं व हत्थेहिं ॥ ४४ ॥

[ उपगतचतुर्थीमङ्गलभविष्यद्वियोगसविशेषलग्नाभ्याम् ।
तस्या वरस्य च स्वेदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥ ]

उपस्थित चतुर्थी मङ्गलके दिन भावीवियोगके भयसे विशेषरूपसे संश्लिष्ट वरवधूके दोनों हाथ जैसे पसीनेरूपी आँसू बहाकर रोरहे हैं ॥ ४४ ॥

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविउं देइ णालवइ किं पि ।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ ॥ ४५ ॥

[ न च दृष्टिं नयति मुखं न च स्प्रष्टुं ददाति नालपति किमपि ।
तथापि खलु किमपि रहस्यं नववधूसङ्गः प्रियो भवति ॥ ]

नवोढ़ा स्वामीके मुखकी ओर दृष्टि नहीं डालती। अपनेको छूने भी नहीं देती और कुछ बोलती भी नहीं तब भी नवोढ़ा जो लोगोंको प्यारी लगती है, इसका अपूर्व रहस्य है ॥ ४५ ॥

अलिअपसुत्तवलन्तम्मि णववरे णववहूअ वेवन्तो ।
संवेल्लिओरुसंजमिअवत्थगण्ठिं गओ हत्थो ॥ ४६ ॥

[ अलीकप्रसुप्तवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः ।
संवेष्टितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थिं गतो हस्तः ॥ ]

नये वरके झूटमूठ सोकर करवट बदलने पर नवोढ़ाका हाथ काँपते-काँपते अन्योऽन्य संश्लेषित ऊरुयुगलद्वारा नियमित वस्त्रग्रन्थिकी ओर बढ़ जाता है ॥

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पप्फुरइ चुम्बिआ रुअइ ।
तुण्हिक्का णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥ ४७ ॥

[ पृच्छ्यमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति ।
तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥ ]

कृतापराध नये वरद्वारा आलिङ्गित हो कर निर्वाक् नवोढ़ा पूछी जानेपर जवाब नहीं देती, हाथद्वारा पकड़ी जानेपर रोती वा ऊपर नीचे करती रहती है एवं चूमी जानेपर रोती है ॥ ४७ ॥

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ ४८ ॥

[ तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।
किं मन्ये मातृष्वसः एक युवकोऽयं ग्रामः ॥ ]

हे मौसी, उस विषयको लेकर ही बात आरम्भ होती है, बढ़ती रहती है एवं उसीमें बात समाप्त हो जाती है, मुझे लगता है जैसे कि इस गाँवमें एक ही युवक वर्तमान है ॥ ४८ ॥

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिमो ताइँ जम्पइ जणो वि ।
ताइं चिअ तेण पजम्पिआइं हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥
[ यानि वचनानि वयमपि जल्पामस्तानि जल्पति जनोऽपि ।
तान्येव तेन प्रजल्पितानि हृदयं सुखयन्ति ॥ ]

जो बातें हम लोग बोलते हैं, अन्य लोग भी वैसे ही बोलते हैं, किन्तु वे ही बातें प्रियतमद्वारा बोली जानेपर मेरे हृदयमें सुख उत्पन्न करती हैं ॥ ४९ ॥

सव्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जं ।
जं जस्स हिअअदइअं तं ण सुहं जं तहिं णत्थि ॥ ५० ॥
[ सर्वादरेण मृगयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम् ।
यद्यस्य हृदयदयितं तन्न सुखं यत्तत्र नास्ति ॥ ]

तुम लोगों को यदि सुखसे प्रयोजन हो तो प्रियतमको खोज लो । कारण, ऐसा हो नहीं सकता कि कोई ऐसा सुख हो जो व्यक्तिके प्रिय व्यक्तिमें न हो ॥ ५० ॥

दीसन्तो दिट्ठिसुओ चिन्तिज्जन्तो मणवल्लहो अत्ता ।
उल्लावन्तो सुइसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिज्जो ॥ ५१ ॥
[ दृश्यमानो दृष्टिसुखश्चिन्त्यमानो मनोवल्लभः श्वश्रु ।
उल्लप्यमानः श्रुतिसुखः प्रिय जनो नित्यरमणीयः ॥ ]

अरी सास, देखनेपर दृष्टिसुखकर, चिन्तित होनेपर मनमोहक एवं कथाप्रसङ्ग में उल्लिखित होनेपर श्रुतिसुख—इस प्रकार प्रियजन हमेशाही रमणीय रहते हैं ॥ ५१ ॥

ठाणब्भट्ठा परिगलिअपीणआ उण्णईअ परिचत्ता ।
अम्हे उण ठरपओहर व्व उअरे च्चिअ णिसण्णा ॥ ५२ ॥
[ स्थानभ्रष्टाः परिगलितपीनत्वा उन्नत्या परित्यक्ताः ।
वयं पुनः स्थविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णाः ॥ ]

हमलोग तो, ऐकिन, स्थानच्युत, गौरवविहीन एवं दयनिसे वञ्चित वृद्धाके स्तनकी भाँति केवल उदरपोषण के लिए यत्नशील हैं ॥ ५२ ॥

पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द ।
अण्णत्त खविअसव्वरि णहभूसण दिणवइ णमो दे ॥ ५३ ॥

[ प्रत्यूषागत रक्तदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।
अन्यत्र क्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥ ]

हे सूर्य, तुम्हें नमस्कार करती हूँ—तुम प्रातःकाल आते हो, तुम्हारा शरीर रक्तिम है, तुम्हारा प्रकाश प्रिय लगता है, तुम आनन्दविधायक हो, तुमने दूसरे देशमें रात बिताया है एवं तुम आकाश मण्डलके भूषण हो ॥ ५३ ॥

विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गब्भसंभूइं ।
ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥ ५४ ॥

[ विपरीतसुरतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।
अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥ ]

हे विपरीत-सुरत-लुब्ध, मेरी गर्भके विषयमें क्यों पूछते हो ? नीचे की ओर मुख अवनत होने पर भी क्या कुम्भमें जलबिन्दु-कण भी टिक सकता है ? ॥ ५४ ॥

अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तरुणगोवीहिं ।
वड्ढन्ते महुमहणे संबन्धा णिण्हुविज्जन्ति ॥ ५५ ॥

[ अत्यासन्नविवाहे समं यशोदया तरुणगोपीभिः ।
वर्धमाने मधुमथने संबन्धा निह्नूयन्ते ॥ ]

मधुसूदनकी वय वृद्धि पर, जब उनका विवाह समय एकदम निकट आ गया, तब तरुण गोपियोंने यशोदासे अपना-उनका सम्बन्ध छिपा लिया ॥५५॥

जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहिँ हिअअफलअम्मि ।
तं तं बालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥

[ यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके
तत्तद्बाल इव विधिर्निभृतं हसित्वा प्रोञ्छति ॥ ]

मन आशारूप तूलिकासे हृदयरूप फलकपर जो-जो चित्र अङ्कित कर रहा है, बच्चों की भाँति विधि-सङ्गोपनसे वे सारे चित्र पोंछने आ रहे हैं ॥ ५६ ॥

अणुहुत्तो करफंसो सअलअलापुण्ण पुण्णदिअहम्मि ।
बीआसङ्गकिसङ्गअ एह्निं तुह वन्दिमो चलणे ॥ ५७ ॥
[ अनुभूतः करस्पर्शः सकलकलापूर्ण पूर्णदिवसे ।
द्वितीयासङ्गकृशाङ्ग इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥ ]

हे सकलकलापूर्ण, पूर्णिमाके दिन तुम्हारे करका संस्पर्श अनुभूत हुआ है। अरे चन्द्र, द्वितीया ( तिथि एवं रमणी ) के संयोगसे तुम अत्यन्त कृश हो गए हो—तुम्हारे चरणों की वन्दना कर रही हूँ ॥ ५७ ॥

दूरन्तरिए वि पिए कह वि णिअत्ताइँ मज्झ णअणाइँ ।
हिअअं उण तेण समं अज्ज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥
[ दूरान्तरितेऽपि प्रिये कथमपि निवर्तिते मम नयने ।
हृदयं पुनस्तेन सममद्याप्यनिवारितं भ्रमति ॥ ]

प्रियतमके दूरदेश चले जानेपर मैंने किसी प्रकार नयनोंको तो फेर लिया, किन्तु मेरा हृदय अभी भी उसके साथ-साथ अबाध रूपमें घूम रहा है ॥ ५८ ॥

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे ।
समुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पवज्जिहिसि ॥ ५९ ॥
[ तस्य कथाकण्टकिते शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे ।
संमुखालोकनकम्पनशीले उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥ ]

तुम उसकी बात चलते ही रोमाञ्चित हो जाती हो, उसके शब्दोंको सुनते ही कोप छोड़ देती हो एवं उसे सामने देखकर काँप जाती हो—आलिङ्गित होनेपर तुम क्या करोगी ? ॥ ५९ ॥

भरणमिअणीलसाहग्गखलिअचलणद्धविहुअवक्खउडा ।
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह पि लहन्ति संठाणं ॥ ६० ॥
[ भरनमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्धविधुतपक्षपुटाः ।
तरुशिखरेषु विहंगाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥ ]

अपने भारसे झुके हुए नीलशाखाग्रभागसे चरणार्द्धके स्खलित हो जानेपर, पक्षपुटको कम्पित कर, तरुशिखरोंपर पक्षी किसीप्रकार स्थान प्राप्त कर रहे हैं ॥ ६० ॥

अद्दरमहुपाणधारिल्लिआइ जं च रमिओ सि सविसेसं ।
असइ अलाज्जिरि बहुसिक्खिरि त्ति मा णाह मण्णुहिसि ॥ ६१ ॥

[ अधरमधुपानलालसया यत्र रमितोऽसि सविशेषम् ।
असती अलज्जाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ मंस्थाः ॥ ]

हे नाथ, अपने अधरमधुपानकी लालसासे तुम जो विशिष्टभावसे रमित हुए हो—इस कारण मुझे असती, लज्जाविहीना एवं बहुविधशिक्षिता मत समझना ॥ ६१ ॥

खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए ।
जह जारं अहिणन्दइ भुक्कइ घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥

[ खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलोऽसत्या ।
यथा जारमभिनन्दति भुक्कति गृहस्वामिन्येति ॥ ]

स्वेच्छाचारिणीने आहार एवं पानद्वारा कुत्तेको इस प्रकार वशीभूत कर लिया है कि यह जारको आते देख अभिनन्दन करता है और गृहस्वामीको आते देख भूँक उठता है ॥ ६२ ॥

कण्डुअन्तेण अकण्डं पल्लीमज्झम्मि विअडकोअण्डं ।
पइमरणाहिँ वि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता ॥ ६३ ॥

[ कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम् ।
पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता श्वश्रूः ॥ ]

गाँवके बीचोबीच व्याध अनायास ही अपने भारसे पुष्ट धनुषको तनुकरने-की चेष्टाकर सासको पतिके मरनेकी अपेक्षा अधिक रुलाया है ॥ ६३ ॥

अम्हे उज्जुअसीला पिओ वि पिअसहि विआरपरिओसो ।
ण हु अण्णा का वि गई वाहोहा कहँ पुसिज्जन्तु ॥ ६४ ॥

[ वयं ऋजुकशीलाः प्रियोऽपि प्रियसखि विकारपरितोषः ।
न खल्वन्या कापि गतिर्बाष्पौघाः कथं प्रोञ्छयन्ताम् ॥ ]

अरी प्यारी सखी हम सरलशील हैं, फिर भी प्रियतमके हावभावादि विकारोंसे सन्तुष्ट रहते हैं। कोई दूसरा उपाय नहीं है, किस प्रकार बाष्प-प्रवाहको पोंछ डालूँ ॥ ६४ ॥

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥ ६५ ॥

[ धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभृतेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥ ]

हे सुन्दर, तुम गोरे हो, फिर भी तुमने मेरे हृदयको रागरञ्जित कर दिया है और हे सुभग, मेरे रागपूर्ण हृदयमें रहकर भी तुम रञ्जित नहीं हो रहे हो ॥ ६५ ॥

चञ्चुपुडाहअविअलिअसहआररसेण सित्तदेहस्स ।
कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलं ॥ ६६ ॥
[ चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्तदेहस्य ।
कीरस्य मार्गलग्नं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥ ]

चञ्चुओंके आघातसे गिरे हुए आमके रसद्वारा सिक्तदेह तोतापक्षीके मार्गमें लगकर गन्धान्ध भ्रमरकुल घूम रहा है ॥ ६६ ॥

एत्थ णिमज्जइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो ।
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मा महँ सअणे णिमज्जिहिसि ॥ ६७ ॥
[ अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः ।
पथिक रात्र्यन्धक मा मम शयने निमङ्क्ष्यसि ॥ ]

यहाँपर सास निस्पन्दभावसे सोनेमें मग्न रहती हैं, यहाँपर मैं और यहाँपर सारे परिजन सोते हैं। अरे रतौंधी रोगके मारे हुए राहगीर, तुम कहीं मेरी शय्यामें निमग्न न हो जाना ॥ ६७ ॥

परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइँ सोक्खाइं ।
ताइं च्चिअ उण विरहे खाउग्गिण्णाइँ कीरन्ति ॥ ६८ ॥
[ परितोषसुन्दराणि सुरतेषु लभन्ते यानि सौख्यानि ।
तान्येव पुनर्विरहे खादितोद्गीर्णानि कुर्वन्ति ॥ ]

महिलाएँ सुरतप्रसङ्गमें जिनसारे परितोषसुन्दरसुखद अनुभव करती हैं, विरहप्रसङ्गमें उन्हें दुःखरूपमें परिणत होनेके समान उसकी प्रतीति होती है ॥ ६८ ॥

मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणँ थणआणं ।
उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो व्व ॥ ६९ ॥
[ मार्गमिवालभमानो हारः पीतोन्नतयोः स्तनयोः ।
उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥ ]

पीन एवं उन्नत स्तनद्वयके बीच मार्ग न पानेके कारण ही हार जैसे यमुना नदीके फेनपुञ्जकी भाँति इधर-उधर डोल रहा है ॥ ६९ ॥

एक्केण वि वडवीअङ्कुरेण सअलवणराइमज्झम्मि ।
तह तेण कओ अप्पा जह सेसदुमा तले तस्स ॥ ७० ॥

[ एकेनापि वटबीजाङ्कुरेण सकलवनराजिमध्ये ।
तथा तेन कृत आत्मा यथा शेषद्रुमास्तले तस्य ॥ ]

सारे वनों में वटवृक्षके उस एक बीजाङ्कुरने अपनेको ऐसा कर डाला है कि अवशिष्ट द्रुम उसके नीचे पड़े हुए हैं ॥ ७० ॥

जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विअड्ढविण्णाणा ।
दारिद्द रे विअक्खण ताणँ तुमं साणुराओ सि ॥ ७१ ॥

[ ये ये गुणिनो ये ये च त्यागिनो ये विदग्धविज्ञानाः ।
दारिद्य रे विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि ॥ ]

जो-जो गुणी हैं, जो-जो दाता हैं एवं जो-जो विज्ञानमें निपुण हैं, अरे विचक्षणदारिद्र्य, तुम उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हो ? ॥ ७१ ॥

जइ कोसिओ सि सुन्दर सअलतिहीचंददंसणसुहाणं ।
ता मसिणं मोइज्जन्तकञ्चुअं पेक्खसु मुहं से ॥ ७२ ॥

[ यदि कौतुकिकोऽसि सुन्दर सकलतिथिचन्द्रदर्शनसुखानाम् ।
तन्मसृणं मोच्यमानकञ्चुकं प्रेक्षस्व मुखं तस्याः ॥]

हे सुन्दर, यदि सारी तिथियोंके चन्द्रको देख आनन्दसम्बन्धी कुतूहल दूर करना चाहते हो तो धीरे धीरे कञ्चुक खोलनेके समय परिदृश्यमान इस नायिकाके मुखड़ेको देखो ॥ ७२ ॥

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥ ७३ ॥

[ समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः ।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥ ]

थोड़े ही दिनोंमें सर्वत्र मार्गोंकी यह अवस्था होगी कि समविषमस्थलोंका पता नहीं चलेगा, एवं यहाँ पर आना-जाना भी धीरे-धीरे होगा, यहाँतक कि यह सब मनोरथके चलनेके योग्य भी नहीं रह जायगा ॥ ७३ ॥

अइदीहराइँ यहुए सीसे दीसन्ति चंसरच्चाइं ।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणँ वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥

[ अतिदीर्घाणि वध्वाः शीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि ।
भणिते भणामि श्वश्रु युष्माकमपि पाण्डुरं पृष्ठम् ॥ ]

अरी सास, अगर तू कहे कि बहूके मस्तकपर बड़े-बड़े बाँसके पत्ते लगे दिख रहे हैं तो मैं भी कहूँगी कि आपकी पीठ ( धूलिके कारण ) पीतवर्णकी दिख रही है ॥ ७४ ॥

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो ।
उम्मच्छरसंतावो पुत्तअ पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥

[ आकस्मिकरोषकरणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः ।
उन्मत्सरसंतापः पुत्रक पदवी स्नेहस्य ॥ ]

हे पुत्रक, अचानक ही रुष्ट और दूसरे ही क्षण तुष्ट, झूठी बातें बनाना एवं द्वेषसे उत्पन्न मनःताप ये स्नेहकी पदवियाँ हैं ॥ ७५ ॥

पिज्जइ कण्णञ्जलिहिं जणरवमिलिअं वि तुज्झ संलावं ।
दुद्धं जणसंमिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥ ७६ ॥

[ पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।
दुग्धं जलसंमिलितं सा बाला राजहंसीव ॥ ]

राजहंसी जिसप्रकार दूधमिले जलमें केवल दूधको पी लेती है, उसी प्रकार वह बाला अन्यव्यक्तियों की बातमें मिले हुए केवल तुम्हारे संलापको कर्णाञ्जलिद्वारा पी ले रही है ॥ ७६ ॥

अइ उज्जुए ण लज्जसि पुच्छिज्जन्ती पिअस्स चरिआइं ।
सव्वङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धीहिं ॥ ७७ ॥

[ अयि ऋजुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।
सर्वाङ्गसुरभेर्मरुवकस्य किं कुसुमर्द्धिभिः ॥ ]

अरी सरलस्वभाववाली, प्रियजनोंके चरितके सम्बन्धमें पूछकर क्या लज्जित नहीं होती ? सर्वाङ्गसुगन्धित (पिण्डखजूरके) मरुवकको सुमनसमृद्धिसे क्या प्रयोजन ? ॥ ७७ ॥

मुद्धे अपत्तिअन्ती पवालअङ्कुरअवण्णलोहिअए ।
णिद्धोअधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुअसि ॥ ७८ ॥

[ मुग्धेऽप्रत्ययन्ती प्रवालाङ्कुरवर्णलोहितौ ।
निर्धौतधातुरागौ किमिति स्वहस्तौ पुनर्धावयसि ॥ ]

अरी मुग्धे, प्रवालाङ्कुर वर्णकी भाँति रक्तिम, अपने हाथसे जो पादराग छूट गया है, यह विश्राम न कर तुम पुनः दोनों हाथोंको क्यों धो रही हो ? ॥ ७८ ॥

उअ सिन्धवपव्वअसच्छहाइँ धुअतूलपुञ्जसरिसाइं ।
सोहन्ति सुअणु सुण्णोअआइं सरए सिअब्भाइं ॥ ७९ ॥

[ पश्य सैन्धवपर्वतसदृक्षाणि धुततूलपुञ्जसदृशानि ।
शोभन्ते सुतनु शून्योदकानि शरदि सिताभ्राणि ॥ ]

हे सुतनु, देखो, शरत्‌में सैन्धवपर्वतकी भाँति प्रतीयमान एवं कम्पित तूलपुञ्जकी आकृतिविशेषसे युक्त जल श्वेत मेघ शोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

आउच्छन्ति सिरेहिँ विवलिएहिँ उअ वअडिएहिँ णिज्जन्ता ।
णिप्पच्छिमवलिअपलोइएहिँ महिसा कुडङ्गाइं ॥ ८० ॥

[ आपृच्छन्ति शिरोभिर्विवलितैः पश्य खड्गिकैर्नीयमानाः ।
निःपश्चिमवलितप्रलोकितैर्महिषाः कुञ्जान् ॥ ]

खड्गधारी सौनिकों ( मांसविक्रेताओं अथवा कसाइयों ) द्वारा ले जाते हुए भैंसे विह्वलमस्तक हो नयनोंसे अन्तिम बार मुड़कर देखते हुए कुञ्जोंसे विदाई ले रहे हैं ( अब कुञ्ज निरापद हो गए हैं । ) ॥ ८० ॥

पुसउ मुहं ता पुत्ति अ बाहोअरणं विसेसरमणिज्जं ।
मा एअं चिअ मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥ ८१ ॥

[ प्रोञ्छस्व मुखं तत्पुत्रि च ( पुत्रिके ) बाष्पोक्षरणं विशेषरमणीयम् ।
मा इदमेव मुखमण्डनमिति करिष्यसि पुनरपि ॥ ]

अरी बेटी, आँसू बहानेवाले विशेष रमणीय अपने मुखड़ेको पोंछ डालो । देखो, यह फिर कहीं यह न समझ ले कि यह मुखका शृङ्गार है ॥ ८१ ॥

मज्झे पअणुअपङ्कं अवहोवासेसु साणचिक्खिल्लं ।
गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ॥ ८२ ॥

[ मध्ये प्रतनुक पङ्कमुभयोः पार्श्वयोः श्यानकर्दमम् ।
ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ॥ ]

गाँवका रास्ता, बीचमें स्वल्पपङ्क एवं दोनों ओर शुष्कपङ्क धारणकर इसके शीर्षगत सीमन्त जैसा प्रतीत हो रहा है ॥ ८२ ॥

अवरह्णागअजामाउअस्स विउणेइ मोहणुक्कण्ठं।
वहुआइ घरपलोहरमज्जणपिसुणो वलअसद्दो॥ ८३॥

[ अपराह्णागतजामातुर्द्विगुणयति मोहनोत्कण्ठाम्।
वध्वा गृहपश्चाद्भागमज्जनपिशुनो वलयशब्दः॥ ]

घरके बादवाले भागमें वधूके मज्जन ( शयन या स्नान ) सूचक वलयशब्द अपराह्णमें आगत जामाताकी सुरतोत्कण्ठाको दुगुना किये डाल रहे हैं॥ ८३॥

जुज्झचवेडामोडिअजज्जरकण्णस्स जुण्णमल्लस्स।
कच्छावन्धो च्चिअ भीरुमल्लहिअअं समुक्खणइ॥ ८४॥

[ युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य।
कक्षाबन्ध एव भीरुमल्लहृदयं समुत्खनति॥]

युद्धमें चपेटाघात पानेके कारण अमर्दित एवं जर्जरकर्णविशिष्ट वृद्धमल्लका मल्लकच्छबन्धन ही भीरुमल्लोंके हृदयको विद्रावित करता है। वृद्धपतिसे विरक्त रमणी युवा नागरको अधिक आदर देती है॥ ८४॥

आणत्तं तेण तुमं पइणो पहएण पडहसद्देण।
मल्लि ण लज्जसि णच्चसि दोहग्गे पाअडिज्जन्ते॥ ८५॥

[ आज्ञप्त तेन त्वा पत्या प्रहतेन पटहशब्देन।
मल्लि न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकटीक्रियमाणे॥ ]

अरी मल्लपत्नी, पतिके पटह ( कर्ण ) ध्वनिको सुननेपर भी तुम अपने जिस दुर्भाग्यकी घोषणा समझती थी, उस दुर्भाग्यके प्रकट होने लगनेपर भी तुम लज्जित नहीं हो रही हो, वरन् नृत्य कर रही हो?॥ ८५॥

मा वच्चह वीसम्भं इमाणँ वहुचाडुकम्मणिउणाणं।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहाणँ सुणआणँ व खलाणं॥ ८६॥

[ मा व्रजत विस्रम्भमेषां बहुचाटुकर्मनिपुणानाम्।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां शुनकानामिव खलानाम्॥ ]

कुत्तोंकी तरह चाटुकारितामें निपुण एवं काम निकल जाते ही पराङ्मुख इन दुष्टों का विश्वास मत करना॥ ८६॥

अण्णग्गामपउत्था कड्ढन्ती मण्डलाणँ रिञ्छोलिं।
अक्खण्डिअसोहग्गा वरिससअं जिअउ मे सुणिआ॥ ८७॥

[ अन्यग्रामप्रस्थिता कर्षयन्ती मण्डलानां पंक्तिम् ।
अखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु मे शुनी ॥ ]

कुत्तोंके दलको आकृष्टकर दूसरे गाँव में जा बसनेवाली मेरी कुतिया अखण्डसौभाग्यवती हो, सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो ॥ ८८ ॥

[ सत्यं कथय देवर तथा तथा चाटुकारकेण शुनकेन ।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥ ]

हे देवर, सच बताओ तो–सभी प्रकार चापलूसीकर कुत्ता जो काम समाप्त होने पर पराङ्मुख हो जाता है, यह उसने किससे सीखा है अर्थात् तुम्हीं से सीखा है ॥ ८८ ॥

णिप्पण्णसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए।
दलिअणवसालितण्डुलधवलमिअङ्कासु राईसु ॥ ८९ ॥

[ निष्पन्नसस्यऋद्धिः स्वच्छन्दं गायति पामरः शरदि ।
दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्कासु रात्रिषु ॥ ]

शरत्कालमें दलित नये शालिधान्यके तन्दुलके समान धवलचन्द्र शोभित विभावरीमें, पामर हालिक प्रचुर शस्यसम्पद पाकर आनन्दमें गा रहा है ॥८९॥

अलिहिज्जइ पङ्कअले हलालिचलणेण कलमगोवीए।
केआरसोअरुम्भणतं सट्ठिअ कोमलो चलणो ॥ ९० ॥

[ आलिख्यते पङ्कतले हलालिचलनेन कलमगोप्याः ।
केदारस्रोतोवरोधतिर्यक् स्थितः कोमलश्चरणः ॥ ]

( पूर्ववत्सर ) केदारस्रोतके अवरोधवश तिरछे खड़ी कलम गोपीके कोमल चरणचिह्न इस वर्ष हलरेखाके खींचे जाते समय कीचड़में खींच डाले जा रहे हैं ॥ ९० ॥

दिअहे दिअहे सूसइ सङ्केअभङ्गवड्ढिआसङ्का।
आवण्डुणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥

[ दिवसे दिवसे शुष्यति सङ्केतकभङ्गवर्धिताशङ्का।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥ ]

( कमल परिपाकमें ) सङ्केतभङ्गकी आशङ्का बढ़जानेपर कमलगोपी कमलके साथ-साथ पाण्डुवर्ण एवं अवनतमुखी हो दिनों-दिन सूखती जा रही है ॥ ९१ ॥

णवकम्मिएण हअपामरेण दट्ठूण पाउंहारीओ।
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ ९२ ॥

[ नवकर्मिणा पश्य पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम्।
मोक्तव्ये योक्त्रप्रग्रहेऽवहासिनी मुक्ता ॥ ]

भक्तहारिकाओंको ( भोजन लानेवालियोंको ) देखकर नवीन कर्मी निर्लज्ज किसान, जोतरश्मि मोचन करनेको उद्यत हो भ्रमवश बैलके नाथ खोल रहे हैं ॥ ९२ ॥

दट्ठूण हरिअदीहं गोसे णइजूरए हलिओ।
असईरहस्समग्गं तुसारधवले तिलच्छेत्ते ॥ ९३ ॥

[ दृष्ट्वा हरितदीर्घं प्रातर्नोतिखिद्यते हलिकः।
असतीरहस्यमार्गं तुषारधवले तिलक्षेत्रे ॥ ]

तुषारधवल तिलके खेतमें असतीके हरितवर्ण एवं दीर्घ रहस्यमार्गको देख प्रातःकाल किसान खेदयुक्त नहीं होते ॥ ९३ ॥

सङ्केल्लिओ व्व णिज्जइ खण्डं खण्डं कओ व्व पीओ व्व।
वासागमम्मि मग्गो घरसुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥

[ सङ्कोचित इव नीयते खण्डं खण्डं कृत इव पीत इव।
वर्षागमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥ ]

वर्षागमसे भावी गृहसुखकी बात स्मरणकर पथिक मानो पथको संक्षिप्त कर अथवा मानो टुक्के-टुकड़े कर, अथवा मानो चर्वण कर चल रहा है ॥ ९४ ॥

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए।
ण सुणंति पिसुणवअणं खलाणँ ऋद्धिं ण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥

[ धन्या बधिरा अन्धास्त एव जीवन्ति मानुषे लोके।
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्धिं न प्रेक्षन्ते ॥ ]

जो बहरे हैं एवं जो अन्धे हैं वे ही धन्य हो जीवित हैं, कारण, वे ही खल मनुष्यों की सुनते नहीं एवं उनकी समृद्धि भी नहीं देखते ॥ ९५ ॥

एण्हिं वारेइ जणो तइआ मूइल्लओ कहिं व्व गओ।
जाहे विसं व्व जाअं सव्वङ्गपहोलिरं पेम्मं ॥ ९६ ॥

[ इदानीं वारयति जनस्तदा मूकः कुत्रापि वा गतः।
यदा विषमिव जातं सर्वाङ्गघूर्णितं प्रेम ॥ ]

जब प्रेम विषकी भाँति सभी अङ्गोंमें व्याप्त हो गया था, तब सभी मूक हो गए थे—अब सभी मना कर रहे हैं ॥ ९६ ॥

कहँ तंपि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणं।
काऊण उच्चवचिअं तुह दंसणलेहला पडिआ ॥ ९७ ॥

[ कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसंदिकानां बहूनाम्।
कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता ॥ ]

तुम क्या यह भी नहीं जानते कि तुम्हारे दर्शनलालसासे अभिभूत हो वह ( नायिका ) अनेक आसन्दिका ( बेंतके आसन या छोटी खाट ) द्वारा बनायी हुई ऊँची सिढ़ी से गिर पड़ी है ॥ ९७ ॥

चोराणँ कामुआणँ अ पामरपहिआणँ कुक्कुडो वअइ।
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ॥ ९८ ॥

[ चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुक्कुटो वदति।
रे रमत वहत वाहयत अत्र तन्वी भवति रजनी ॥ ]

'अब रात थोड़ी-सी ही बची है' यह सूचितकर मुर्गा चोरों, कामुकों एवं पथिकों से क्रमानुसार 'लेते रहो' 'रमणमें मत्त होओ' एवं ( गाड़ी ) 'चलाते रहो' कहे दे रहा है ॥ ९८ ॥

अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसराणं।
दो च्चिअ मण्णे कअभण्डणाइँ समअं पहसिआइँ ॥ ९९ ॥

[ अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलितदृष्टिप्रसरौ।
द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समं प्रहसितौ ॥ ]

एक दूसरेके प्रति एक दूसरेके कटाक्षमें प्रेरित दृष्टियाँ मिल जानेसे ऐसा प्रतीत होता है कि कलह करनेवाले दोनों एक साथ ही हँस पड़े थे ॥९९॥

संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलं।
अलिअं चिअ फुरिओट्ठं विअलिअमन्तं हरं णमह ॥ १०० ॥

[ संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखकमलम् ।
अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमंत्रं हरं नमत ॥ ]

सन्ध्याकालीन जलाञ्जलिमें प्रतिबिम्बित गौरीका मुखकमल देखकर, मंत्रोच्चारणलिप्त होनेपर भी मिथ्याभावसे ओठोंको चलानेवाले ( हिलानेवाले ) हरको नमस्कार करें ॥ १०० ॥

इअ सिरि हालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए ।
सत्तमसअं समत्तं गाहाणँ सहावरमणिज्जं ॥ १०१ ॥

[ इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते ।
सप्तमशतं समाप्तं गाथा स्वभावरमणीयम् ॥ ]

इसी स्थानपर श्रीहाल ( नरपाल ) विरचित सप्तशती नामक प्राकृत-स्वरभावरमणीय सप्तशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

# परिशिष्ट ( क )

## गाथानुक्रमणिकादि

| गाथा सन्दर्भ | पाठ |
|---|---|
| बहुवल्लहस्य-मिठास | १।७२ |
| बहुविहविलासरसिर-स्नेहानुबन्धन | ५।७७ |
| बहुसो वि-पुनरुक्ति | २।९८ |
| बालअ तुमाइ दिण्ण-वैरशुद्ध | ५।१९ |
| बालअ तुमाहि अहिअ-उद्देश्य | ३।१५ |
| बालअ दे वच्च-दयनीया | ६।८७ |
| भग्गपिअसगम-ज्योत्स्ना | ५।९१ |
| भण्डतस्स-प्रहरी | २।६७ |
| भण को ण-असमय | ४।१०० |
| भणन्तीअ-पश्चात्ताप | ४।७९ |
| भमइ पलित्तइ-जीवन-साथी | ५।१४ |
| भम धम्मिअ-सुझाव | २।७५ |
| भरणमिअणील-आधार | ७।६० |
| भरिउच्चरन्त-शोकातुर | ४।७७ |
| भरिमो से गहिआहर-स्मृति | १।७८ |
| भरिमो से सअण-स्वप्टनिद्रा | ४ ६८ |
| भिच्छाअरों-भिक्षाजावी | २।६२ |
| भुञ्जसु स साहीण-स्नेह गरिमा | ४ १६ |
| भोइणिदिण्णपहेण-भोगिनी | ७।३ |
| मअणग्गिणो-केशभार | ६ ७२ |
| मग्ग चिअ-फेन | ७ ६९ |
| मज्झण्णपत्थिअस्स-मुखचन्द्र | ४।९२ |
| मज्झ पअणुअ-माग | ७ ८२ |
| मज्झो पिओ-व्याधपत्नी | ६।९७ |
| मण्णे आअण्णन्ता-बालव्यभिचारिणी | ७।४३ |
| मण्णे आसासो-अमृत | ६।९३ |
| मन्द पि ण-जामाता | ६ १०० |
| मरग असूई-सकेत स्थल | ४।९४ |
| मसिण चङ्कम्मन्ती-वर्धनी | ५।६३ |
| महमहइ-अङ्कोट वृक्ष | ५।०७ |
| महिलाण चिअ-प्रवास | ६।८६ |
| महिम्गामहस्स-सतमा | २।८२ |
| महिसक्खन्ध-वीणाझङ्कार | ६।६० |
| महुमच्छिआइ-मधुमक्षिका | ७।३४ |
| महुमासममारुआ-वसन्त | २।२८ |
| मा कुण पडिवक्ख-गुरुमान | २।५२ |
| मा जूर पिआ-खेद | ४।१४ |
| माणदुमपरुस-शुभकामना | ४।४४ |
| माणुम्मत्ताइ-मानोन्मत्त | ६।२२ |
| माणोसह-औषध | ३।७० |
| ममि सरसक्खराणँ-वाणी वैशिष्य | ५।५० |
| मामि हिअअ-कडुआ घूट | ३।४६ |
| मारेसि क ण-नयनवाण | ६।४ |
| मालइकुसुमाइँ-सगुण निर्गुण | ५।२६ |
| मालारीए वेल्लहल-मालिन | ६।९८ |
| मालारी ललिउल्लुलिआ-व्याकुल | ६।९६ |
| मा वच्च पुप्फ-शीलोन्मूलन | ४।५५ |
| मा वच्चह वीसम-खल | ७ ८६ |
| मामपसूअ-रति रहस्य | ३।५९ |
| मुद्धे अपत्तिअन्ती-मुग्धा | ७ ७८ |
| मुहपुण्डरीअ-राजहस | ७।२४ |
| मुहपेच्छओ पइ-दर्शनाकांक्षी | ५।९८ |
| मुहमारुएण-उपालम्भ | १।८९ |
| मुहविज्झविअ-चौर रमण | ४।३३ |
| मेहमहिसस्स-इन्द्रधनुष | ६।८४ |
| रइकेलिहिअणि-रतिकेलि | ५।५५ |
| रइविरमलज्जिआओ-रमणान्तर | ५।१९ |
| रच्छेइ पुत्तअ-पथिक गृहिणी | ७ २१ |
| रणगाउ तण-प्रेम | ३।८७ |
| रत्थापइण्ण-प्रतीक्षा | २।४० |
| रन्धणकम्म-सान्त्वना | १।१४ |
| रमिऊण पअ-रमण | १।९८ |
| रसिअ विअड्ढ-समयज्ञ | ५।५ |
| राअविरुद्ध-राजद्रोह | ४।९६ |
| रुन्दारविंद-वसन्तलक्ष्मी | ६।७४ |
| रूअ अच्छीसु-भावना | २।३२ |
| रूअ सिट्ठ-रूप | ६।७३ |
| रेहइ गलन्त-विद्याधरी | ५।४६ |
| रेहन्ति कुमुअ-कुमुद | ६।६१ |
| रोवन्ति व्व अरण्णे-झिल्लीकीट | ५।९४ |
| लङ्कालआण-लङ्कानिवासी | ४।११ |
| लज्जा चत्ता-अपयश | ६।२४ |
| लहुअन्ति-लघुता | ३।५५ |
| लुम्बीओ अङ्गण-दृष्टिक्षेप | ४।२२ |

# परिशिष्ट ( ख )

## कवि एवं कवयित्री

| गा. | क्र | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| १ | १ | शालिवाहन | हाल |
| ,, | २ | ० | ० |
| ,, | ३ | हाल कु | पोट्टिस |
| ,, | ४ | योदित, वोडिस कु | सालाहण |
| ,, | ५ | त्रिलोक, चुल्लोह कु | चल्लोन्य |
| ,, | ६ | मकरन्द | मयरन्दसेर |
| ,, | ७ | प्रवरगन, अमरराज कु | ० |
| ,, | ८ | कुमारिल | कुमारिल |
| ,, | ९ | ० | महिभूपाल |
| ,, | १० | अनाक सिरिराअ कु | दुर्गस्वामिन् |
| ,, | ११ | ० | दुर्गस्वामिन् |
| ,, | १२ | दुर्गास्वामिन् | ० |
| ,, | १३ | हाल कु ग | हाल |
| ,, | १४ | भीमस्वामिन्, कु ग | ० |
| ,, | १५ | गजसिंह | रुद्रसुत |
| ,, | १६ | शालिवाहन | श्री शातवाहन |
| ,, | १७ | ० | श्रीवर्मग |
| ,, | १८ | ० | श्रीवर्मण |
| ,, | १९ | गज | गुण |
| ,, | २० | चन्द्रस्वामिन् | वघर्य |
| ,, | २१ | वलिराज | कलिंग |
| ,, | २२ | ० | बहुराग |
| ,, | २३ | मकरन्द | मेघाधकार |
| ,, | २४ | ब्रह्मचारिन् | ब्रह्मचारिन् |
| ,, | २५ | कालसार | कालसार |

| गा | क्र | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| १ | २६ | अर्धराज्य | वत्सराज |
| ,, | २७ | कुमार | वत्सराज |
| ,, | २८ | प्रणाम | कुनाल |
| ,, | २९ | शल्याण | ० |
| ,, | ३० | हरिजन | हरिराज |
| ,, | ३१ | अगराज | वाक्पतिराज |
| ,, | ३२ | भोगिक | भोज |
| ,, | ३३ | अनग | अनङ्गदेव |
| ,, | ३४ | अनग | रविराज |
| ,, | ३५ | शालिवाहन | हाल |
| ,, | ३६ | मल्लोक | माहिल |
| ,, | ३७ | अवङ्क | अम्वक |
| ,, | ३८ | ० | चुल्लोटक |
| ,, | ३९ | कविराज | विन्ध्य |
| ,, | ४० | ० | मुग्ध |
| ,, | ४१ | नाथा | रोहा |
| ,, | ४२ | वल्लभ | वल्लभ |
| ,, | ४३ | अमृत | वैरसिंह |
| ,, | ४४ | रतिराज | कविराज |
| ,, | ४५ | प्रवरराज | प्रवरराज |
| ,, | ४६ | रूप | मेघन |
| ,, | ४७ | सिंह | साहल |
| ,, | ४८ | अनिरुद्ध | अनिरुद्ध |
| ,, | ४९ | सुरभवत्सल | सुरभवक्ष |
| ,, | ५० | स्वर्गवर्म | गजवर्म |
| ,, | ५१ | काल | हाल |
| ,, | ५२ | वैशार | केरल |
| ,, | ५३ | मन्मथ | षण्मुख |
| ,, | ५४ | वर्ण | घर्णराज |
| ,, | ५५ | कुसुमायुध | कुसुमायुध |

| गा. | क्र | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| १ | ५६ | गजलज्ज. | गृहलधित |
| ” | ५७ | मकरंद. | 'करमदशेल |
| ” | ५८ | असद्दश. | असद्द |
| ” | ५९ | मुग्धाधिप. | हूणाधिप |
| ” | ६० | मुग्धाधिप. | विग्जूहराज |
| ” | ६१ | मुग्धाधिप. | विचित्र |
| ” | ६२ | ब्रह्मराज. | ईश्वरराज |
| ” | ६३ | काल्ति. | पालिक |
| ” | ६४ | प्रवरसेन. | सयरसेन |
| ” | ६५ | मुसराज. | आढ्यराज |
| ” | ६६ | धीर. | कृष्टसदिर |
| ” | ६७ | धीर. | कोडिल्लक |
| ” | ६८ | कालाधिपर. | चित्तराज |
| ” | ६९ | अनुराग. | धृवराग्ज |
| ” | ७० | अनुराग. | चद्रपुट्टिका |
| ” | ७१ | ० | मुद्धसील |
| ” | ७२ | ० | अज्झ |
| ” | ७३ | वसल्क. | पीतहर्म्यंग |
| ” | ७४ | पौल्निय. | पालित्तक |
| ” | ७५ | ० | वासुदेव |
| ” | ७६ | भीमविक्रम. | भीमविक्रम |
| ” | ७७ | विनयायिन. | विरयादित |
| ” | ७८ | मुक्ताधर. | मुक्ताफल |
| ” | ७९ | काटिह्ल. | काढिल्लक |
| ” | ८० | मकरन्द. | मधुकर |
| ” | ८१ | स्वामिक. | मधुकर |
| ” | ८२ | स्वामिक. | स्वामिन् |
| ” | ८३ | कुनशशील. | कुनपुराशील |
| ” | ८४ | ईशान. | निघट्ट |
| ” | ८५ | आह्विराह. | आदिवराह |
| ” | ८६ | प्रह्ना. | पृथिवी |
| ” | ८७ | रेवा. | रेवती |
| ” | ८८ | ग्रामकूट. | ग्रामपुट्टिका |
| ” | ८९ | पोट. | पुट्टिस |
| ” | ९० | रेवा. | ० |
| ” | ९१ | गजदेव | ० |
| ” | ९२ | मानग | मातंग |
| १ | ९३ | वज्र | वटुक |
| ” | ९४ | हारकुन. | फरकुन |
| ” | ९५ | वप्रराज. | वाक्पतिराज |
| ” | ९६ | स्थिरसाहस. | स्थिरसाहस |
| ” | ९७ | वप्रराज. | ० |
| ” | ९८ | मकरन्द. | नन्नराज |
| ” | ९९ | श्राशक्तिक. | धर्मंग |
| ” | १०० | श्रीशक्तिक. | नरनाथ |
| २ | १ | मान | मान |
| ” | २ | मान | ग्रामणीक |
| ” | ३ | मान | महाश्य |
| ” | ४ | मान. | श्रीधर्मिल |
| ” | ५ | महादेव. | दामोदर |
| ” | ६ | दामोदर. | ० |
| ” | ७ | अलीक. | महादेव |
| ” | ८ | भ्रमर. | चमर |
| ” | ९ | काल्सिंह | कालियसिंह |
| ” | १० | मृगाक. | रसिक |
| ” | ११ | मृगाक. | ताराभद्रक |
| ” | १२ | निधिविग्रह. | नारायण |
| ” | १३ | मुद. | मृगेंद्र |
| ” | १४ | बुर. | गुरप |
| ” | १५ | कमल. | कमलाकर |
| ” | १६ | हालिक. | ललित |
| ” | १७ | शालिवाहन. | काहिल |
| ” | १८ | शालिवाहन. | कृष्णराज |
| ” | १९ | शालिवाहन. | स्कंददास |
| ” | २० | शालिवाहन | ० |
| ” | २१ | गधराज | ० |
| ” | २२ | कर्णपुत्र. | कर्णपूर |
| ” | २३ | अविराग. | अनुराग |
| ” | २४ | राम. | राम |
| ” | २५ | राम. | प्रवरसेन |
| ” | २६ | उजय | ० |
| ” | २७ | शालिवाहन. | ० |
| ” | २८ | शालिग. | ग्रामकुट्टिका |
| ” | २९ | शालिक. | स्वामिन् |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल | गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| २ | ३० | शालिवाहन. | मरभिवृक्ष | २ | ६७ | ० | आढ्यराज |
| " | ३१ | सोमराज. | बोगराज | " | ६८ | ० | महिषासुर |
| " | ३२ | ० | ० | " | ६९ | ० | पुण्डरीक |
| " | ३३ | ब्रह्मगनि | ० | " | ७० | ० | ० |
| " | ३४ | विक्रमराज | ० | " | ७१ | ० | नरवाहन |
| " | ३५ | कीर्तिराज. | कीर्तिरमिक | " | ७२ | ० | सर्वस्वामिन् |
| " | ३६ | कुदपुत्र. | कदुष्क | " | ७३ | | ० |
| " | ३७ | शक्तिहस्त. | माधव | " | ७४ | ० | ० |
| " | ३८ | ० | देवराज | " | ७५ | ० | व्याघ्रस्वामिन् |
| " | ३९ | अनुराग. | अनुराग | " | ७६ | ० | आभ्रलक्ष्मी |
| " | ४० | ० | हाल | " | ७७ | ० | नागधर्म |
| " | ४१ | वैरशक्ति. | रवशक्ति | " | ७८ | ० | ० |
| " | ४२ | ० | बधुधर्मन् | " | ७९ | ० | हाल |
| " | ४३ | ० | ० | " | ८० | ० | अविरत |
| " | ४४ | वल्यीपित. | मालवाधिप | " | ८१ | ० | माधवशक्ति |
| " | ४५ | वल्यीपिन. | मालवाधिप | " | ८२ | ० | नागभट्ट |
| " | ४६ | ० | विजयशक्ति | " | ८३ | ० | अचल |
| " | ४७ | ० | हाल | " | ८४ | ० | हाल |
| " | ४८ | ० | विरहार्णल | " | ८५ | ० | साहस |
| " | ४९ | ० | अवदक | " | ८६ | ० | निर्वेप |
| " | ५० | ० | केशवराज | " | ८७ | ० | शल |
| " | ५१ | कलव | निष्कलक | " | ८८ | ० | ० |
| " | ५२ | ० | मातग | " | ८९ | ० | अनगदेव |
| " | ५३ | ० | मातुल | " | ९० | ० | धर्मिण |
| " | ५४ | ० | सवज्ज | " | ९१ | ० | हाल |
| " | ५५ | ० | मगलकलश | " | ९२ | ० | मदाहड |
| " | ५६ | ० | हाल | " | ९३ | ० | स्थिरवित्त |
| " | ५७ | ० | प्रवरराज | " | ९४ | ० | वाटिल |
| " | ५८ | ० | ० | " | ९५ | ० | गागिल |
| " | ५९ | ० | हरिकेशव | " | ९६ | ० | वत्सराज |
| " | ६० | ० | गुणाढ्य | " | ९७ | ० | भार |
| " | ६१ | ० | आनूक | " | ९८ | ० | कशपुत्र |
| " | ६२ | ० | स्वधर्मग | " | ९९ | ० | हरिवृद्ध |
| " | ६३ | ० | रेहा | " | १०० | ० | मणिनाग |
| " | ६४ | ० | हाल | ३ | १ | ० | राग्रदेव |
| " | ६५ | ० | काढिलक | " | २ | ० | प्रवरसेन |
| " | ६६ | ० | स्वामिन् | " | ३ | ० | कुडलहस्तिन् |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल | गा | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३ | ४ | ० | वधुदत्त | ३ | ४१ | ० | मन्मथ |
| " | ५ | ० | हाल | " | ४२ | ० | वल्लभट्ट |
| " | ६ | ० | ० | " | ४३ | ० | सुंदर |
| " | ७ | ० | नागहस्तिन् | " | ४४ | ० | दलक |
| " | ८ | ० | प्रवरसेन | " | ४५ | ० | रोल्देव |
| " | ९ | ० | भानुशक्ति | " | ४६ | ० | ० |
| " | १० | ० | माधवराज | " | ४७ | ० | हाहुल |
| " | ११ | ० | अनग | " | ४८ | ० | सुचरित |
| " | १२ | ० | अद्मरि | " | ४९ | ० | सुद्दक |
| " | १३ | ० | त्रिविक्रम | " | ५० | ० | सज्जन |
| " | १४ | ० | ० | " | ५१ | ० | हाल |
| " | १५ | ० | हाल | " | ५२ | ० | रिंद्र |
| " | १६ | ० | सर्वसेन | " | ५३ | ० | ० |
| " | १७ | ० | पालित्तक | " | ५४ | ० | पालित्तक |
| " | १८ | ० | आढ्यराज | " | ५५ | ० | गोविंदस्वामिन् |
| " | १९ | ० | देवराज | " | ५६ | ० | पालित्तक |
| " | २० | ० | अरिकेसरिन् | " | ५७ | ० | पालित्तक |
| " | २१ | ० | ब्रह्मचारिन् | " | ५८ | ० | कविराज |
| " | २२ | ० | अनवरत | " | ५९ | ० | हाल |
| " | २३ | ० | ० | " | ६० | ० | ऊर्ध्ववश |
| " | २४ | ० | ० | " | ६१ | ० | दुर्विदग्ध |
| " | २५ | ० | मकरन्द | " | ६२ | ० | पालित्तक |
| " | २६ | ० | विक्रम | " | ६३ | ० | आन्ध्रलक्ष्मी |
| " | २७ | ० | हाल | " | ६४ | ० | मुईक |
| " | २८ | ० | आन्ध्रलक्ष्मी | " | ६५ | ० | हाल |
| " | २९ | ० | विलभ | " | ६६ | ० | पराकम |
| " | ३० | ० | असमसाह | " | ६७ | ० | समुद्रशक्ति |
| " | ३१ | ० | ० | " | ६८ | ० | हाल |
| " | ३२ | ० | निरुपम | " | ६९ | ० | मेघनील |
| " | ३३ | ० | सर्वसेन | " | ७० | ० | राघव |
| " | ३४ | ० | आढ्यराज | " | ७१ | ० | पर्वतकुमार |
| " | ३५ | ० | हाल | " | ७२ | ० | ० |
| " | ३६ | ० | वेज्झर | " | ७३ | ० | हाल |
| " | ३७ | ० | मलसेम | " | ७४ | ० | ० |
| " | ३८ | ० | ० | " | ७५ | ० | ईशान |
| " | ३९ | ० | अनुराग | " | ७६ | ० | समरस |
| " | ४० | ० | ० | " | ७७ | ० | निरवग्रह |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| ३ | ७८ | ० | हाल |
| ,, | ७९ | ० | जीवदेव |
| ,, | ८० | ० | विन्ध्यराज |
| ,, | ८१ | ० | विशुद्धशील |
| ,, | ८२ | ० | ० |
| ,, | ८३ | ० | अल्कार |
| ,, | ८४ | ० | ० |
| ,, | ८५ | ० | अभिनवगजेंद्र |
| ,, | ८६ | ० | ० |
| ,, | ८७ | ० | रत्नाकर |
| ,, | ८८ | ० | हरिमृग |
| ,, | ८९ | ० | लक्ष्मण |
| ,, | ९० | ० | कृष्णचित्त |
| ,, | ९१ | ० | कृष्णराज |
| ,, | ९२ | ० | राज्यधर्मन |
| ,, | ९३ | ० | पाहिल |
| ,, | ९४ | ० | मधुसूदन |
| ,, | ९५ | ० | मल्ल |
| ,, | ९६ | ० | विषद |
| ,, | ९७ | ० | ममविषमाक |
| ,, | ९८ | ० | सर्वस्वामिन् |
| ,, | ९९ | ० | कीर्तिवर्मन |
| ,, | १०० | ० | आउर |
| ४ | १ | ० | शिखण्डिन् |
| ,, | २ | ० | वल्लभचिह्न |
| ,, | ३ | ० | माधव |
| ,, | ४ | ० | शशिप्रभा |
| ,, | ५ | ० | ग्रामकुट्टिका |
| ,, | ६ | ० | सुग्रीव |
| ,, | ७ | ० | ० |
| ,, | ८ | ० | भूषण |
| ,, | ९ | ० | ० |
| ,, | १० | ० | सुदर्शन |
| ,, | ११ | ० | अनुराग |
| ,, | १२ | ० | हाल |
| ,, | १३ | ० | दडिन |
| ,, | १४ | ० | नरसिंह |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| ४ | १५ | ० | नागहस्तिन् |
| ,, | १६ | ० | त्रिलोचन |
| ,, | १७ | ० | यदस्वामिन् |
| ,, | १८ | ० | श्रीमाधव |
| ,, | १९ | ० | अवन्तिवर्मन |
| ,, | २० | ० | प्रवरराज |
| ,, | २१ | ० ० | ० |
| ,, | २२ | ० | हम |
| ,, | २३ | ० | हम |
| ,, | २४ | ० | चुल्लोडक |
| ,, | २५ | ० | चुल्लोडक |
| ,, | २६ | ० | हाल |
| ,, | २७ | ० | महासेन |
| ,, | २८ | ० | धनञ्जय |
| ,, | २९ | ० | कृष्णचरित्र |
| ,, | ३० | ० | प्रमत्र |
| ,, | ३१ | ० | महाराज |
| ,, | ३२ | ० | बलदेव |
| ,, | ३३ | ० | विरहानल |
| ,, | ३४ | ० | आन्ध्र |
| ,, | ३५ | ० | कैवर्त |
| ,, | ३६ | ० | भूतदत्त |
| ,, | ३७ | ० | महादेव |
| ,, | ३८ | ० | विश्वसेन |
| ,, | ३९ | ० | हाल |
| ,, | ४० | ० | प्रवरराज |
| ,, | ४१ | ० | जीवदेव |
| ,, | ४२ | ० | पाल्हराज |
| ,, | ४३ | ० | पाहिल |
| ,, | ४४ | ० | चुल्लोडक |
| ,, | ४५ | ० | कैलास |
| ,, | ४६ | ० | मदर |
| ,, | ४७ | ० | माणिक्यराज |
| ,, | ४८ | ० | शेखर |
| ,, | ४९ | ० | नागहस्तिन् |
| ,, | ५० | ० | ० |
| ,, | ५१ | ० | चंद्रक |
| ,, | ५२ | ० | कदलीगृह |

| गा. | क्र | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| ४ | ५३ | ० | मिधराज |
| ” | ५४ | ० | नकुल |
| ” | ५५ | ० | मदन |
| ” | ५६ | ० | अशोक |
| ” | ५७ | ० | ० |
| ” | ५८ | ० | गुणनन्दिन् |
| ” | ५९ | ० | जयकुमार |
| ” | ६० | ० | ० |
| ” | ६१ | ० | रोलदेव |
| ” | ६२ | ० | वज्रहक |
| ” | ६३ | ० | वासुदेव |
| ” | ६४ | ० | विशाल |
| ” | ६५ | ० | विक्रमादित्य |
| ” | ६६ | ० | ० |
| ” | ६७ | ० | राहव |
| ” | ६८ | ० | ० |
| ” | ६९ | ० | ० |
| ” | ७० | ० | वसगान |
| ” | ७१ | ० | हाल |
| ” | ७२ | ० | हाल |
| ” | ७३ | ० | नागहस्तिन् |
| ” | ७४ | ० | दुगलक |
| ” | ७५ | ० | अनुराग |
| ” | ७६ | ० | मानृराज |
| ” | ७७ | ० | विशेषरसिक |
| ” | ७८ | ० | कल्याणसिंह |
| ” | ७९ | ० | सवमर |
| ” | ८० | प्रतान | मृणाल |
| ” | ८१ | केशव | केशव |
| ” | ८२ | नीलमानु | शिलिम्र |
| ” | ८३ | मत्तगजेंद्र | मत्तगजेंद्र |
| ” | ८४ | कुविंद | कुविंद |
| ” | ८५ | अल्ल | ० |
| ” | ८६ | दुर्द्धर | दुर्द्धर |
| ” | ८७ | दुर्द्धर | ० |
| ” | ८८ | सुरभिवत्स | ० |
| ” | ८९ | सुरभिवत्स | विरहानल |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| ४ | ९० | शालिवाहन | ताराभट्ट |
| ” | ९१ | ० | हाल |
| ” | ९२ | नन्दिपुत्र | ० |
| ” | ९३ | पालित | पालित्तक |
| ” | ९४ | पालित | वयस्य |
| ” | ९५ | मानस्वामिन् | ० |
| ” | ९६ | वल्लण | श्रादत्त |
| ” | ९७ | मलयशेखर | मलयशेखर |
| ” | ९८ | ० | ० |
| ” | ९९ | मगलकलश | मालवलश |
| ” | १०० | महोदधि | महोदधि |
| ५ | १ | शालवाहन | ० |
| ” | २ | विग्रहराज | ० |
| ” | ३ | ० | ० |
| ” | ४ | कड्डिल | ० |
| ” | ५ | ब्रह्मचारिन् | ० |
| ” | ६ | ० | ० |
| ” | ७ | ० | ० |
| ” | ८ | शालवाहन | ० |
| ” | ९ | शालवाहन | ० |
| ” | १० | ० | पृथ्वानदन |
| ” | ११ | ० | ० |
| ” | १२ | श्राशक्ति | नील |
| ” | १३ | शकर | श्रीदत्त |
| ” | १४ | शालवाहन | स्वभाव |
| ” | १५ | ब्रह्मदत्त | ब्रह्मदत्त |
| ” | १६ | रोलदेव | रोलदेव |
| ” | १७ | पालित | देवदेव |
| ” | १८ | देवदेव | ० |
| ” | १९ | तुङ्गक | भुजग |
| ” | २० | शालवाहन | ० |
| ” | २१ | राजरमिक | प्रवरराज |
| ” | २२ | दशरथ | मुग्धहरिण |
| ” | २३ | सरण | परबल |
| ” | २४ | कवणतुग | काचनतुग |
| ” | २५ | पालित | स्फुटिक |
| ” | २६ | मृगावलक्ष्मी | ० |
| ” | २७ | लक्ष्मण | स्फुटिक |

| गा. | क्र. पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|
| ५ | २८ पोग्गिस | विषग्रथि |
| | २९ मकरंद | ० |
| ,, | ३० | रामदेव |
| ,, | ३१ शालवाहन | ० |
| ,, | ३२ मान | पालित्तक |
| ,, | ३३ पालित्त | कुमारदेव |
| ,, | ३४ पालित्त | ० |
| ,, | ३५ ० | ० |
| ,, | ३६ शालवाहन | ० |
| ,, | ३७ वहिल | ० |
| , | ३८ उल्लोल | ० |
| , | ३९ अट्टराज | हाल |
| ,, | ४० माधव | मार्गशक्ति |
| ,, | ४१ सरसह | सरग्रहण |
| ,, | ४२ मुग्ध | वर्वधर्मन् |
| ,, | ४३ गजेंद्र | उत्त |
| ,, | ४४ गजेन्द्र | दोर्सार |
| ,, | ४५ जोज्जदेव | पेट्टा |
| ,, | ५६ केशोराय | वल कत |
| ,, | ४७ शाल्वाहन | देव |
| ,, | ४८ शालवाहन | ० |
| ,, | ४९ कुमारिल | विन्ध्यराज |
| ,, | ५० कुमारिल | विन्ध्यरान |
| ,, | ५१ चारुदत्त | विष्णुना |
| , | ५२ विष्णुराज | कुददत्त |
| ,, | ५३ वज्जलराय | कर्णरान |
| ,, | ५४ दुर्गरान | दुर्गरान |
| ,, | ५५ शालवाहन | वसन |
| ,, | ५६ वसन | वसन |
| ,, | ५७ ० | वासुदेव |
| ,, | ५८ चुल्लोन | चुल्लोडक |
| ,, | ५९ चुल्लोन, | धवल |
| ,, | ६० चुल्लोन | वल्लभ |
| ,, | ६१ शालवाहन | रोहा |
| ,, | ६२ रेखा | रोहा |
| ,, | ६३ रेखा | सवरराज |
| ,, | ६४ पादवशर्विनि | हाल |

| गा. | क्र. पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|
| ५ | ६५ शालवाहन | हाल |
| ,, | ६६ पोग्गिस | पोट्टिस |
| ,, | ६७ पृथ्वीनाथ | वृच्छिन |
| ,, | ६८ पृथ्वीनाथ | वृच्छिन |
| ,, | ६९ ० | मतुल |
| ,, | ७० चुल्लेन | चुल्लोडक |
| ,, | ७१ चुल्लन | हाल |
| ,, | ७२ मुकुंद | इंद्र |
| ,, | ७३ अनगव | अनङ्गदेव |
| ,, | ७४ गुणाढ्य | गुणमुग्धा |
| ,, | ७५ शालवाहन | आन्ध्रलक्ष्मी |
| ,, | ७६ आ ध्रलक्ष्मी | आन्ध्रलक्ष्मी |
| ,, | ७७ वहिल | साहाल |
| ,, | ७८ वराह | वराह |
| ,, | ७९ सेनेंद्र | कुम्भिभोगिन् |
| ,, | ८० नि मह | निपह |
| ,, | ८१ प्रवरसेन | परमेश्वर |
| ,, | ८२ दुल्भराज | दुर्लभराज |
| ,, | ८३ नि मह | ० |
| ,, | ८४ हरिराज | हरिराज |
| ,, | ८५ विदग्ध | धृवभट्ट |
| ,, | ८६ अजय | सूद्रक |
| ,, | ८७ महादेव | विद्याचार्य |
| ,, | ८८ वनगन | वनदेव |
| , | ८९ राघव | राघव |
| ,, | ९० राघव | ० |
| ,, | ९१ दूरमान | दूरामर्ष |
| ,, | ९२ विरहविलास | ० |
| ,, | ९३ विग्ध | दुध |
| ,, | ९४ दुर्लभरान | हाल |
| ,, | ९५ परमेश्वर | ० |
| ,, | ९६ दुद्धरुद्द | दुर्गस्वामिन् |
| ,, | ९७ माधव | विन्ध्यराज |
| ,, | ९८ शाल्वाहन | रोहदेव |
| ,, | ९९ ० | ० |
| ,, | १०० शाल्वाहन | बुद्धभट्ट |
| ६ | १ विक्रमभानु | विक्रान्तभानु |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल | गा | क्र | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ६ | २ | सर्वसेन | शिवरान | ६ | ३९ | ० | अनुभ॒ |
| " | ३ | सर्वसेन | सलवण | " | ४० | ० | स्पदन |
| " | ४ | महिपासुर, | महिपासुर | " | ४१ | ० | ० |
| " | ५ | श्रामाधव | आन्भलक्ष्मा | " | ४२ | ० | आदित्यसेन |
| " | ६ | रेखा | वनकेसरिन् | " | ४३ | ० | आदित्यसेन |
| " | ७ | केशव | सभ्रम | " | ४४ | ० | ० |
| " | ८ | रोलदेव | ० | " | ४५ | ० | पालित्तक |
| " | ९ | ० | जयदास | " | ४६ | ० | सिरिसत्ता |
| " | १० | रमिल | जयदेव | " | ४७ | ० | ० |
| " | ११ | यश सिंह | जयसिंह | " | ४८ | ० | ० |
| " | १२ | बहुबल | साधुवलित | " | ४९ | ० | कालिंग |
| " | १३ | कुमारिल | सुमति | " | ५० | ० | ० |
| " | १४ | मन्मथ | मह्मभट्ट | " | ५१ | ० | ० |
| " | १५ | ईश्वर | गिरिसता | " | ५२ | ० | हाल |
| " | १६ | ईश्वर | अभिमान | " | ५३ | ० | वाणसूर |
| " | १७ | शालवाहन | हाल | " | ५४ | ० | ० |
| " | १८ | ० | रघुवाहन | " | ५५ | ० | विद्द |
| " | १९ | ० | विपन्नाविह्क | " | ६४ | ० | शातवाहन |
| " | २० | ० | सरस्वता | " | ६५ | प्रवरसेन | प्रवर |
| " | २१ | ० | कालदेव | " | ६६ | कलश | कलशचिह्न |
| " | २२ | ० | अनुराग | " | ६७ | बहुगुण | बहुगुण |
| " | २३ | ० | कलितसिंह | " | ६८ | शालवाहन | प्रमरान |
| " | २४ | ० | तारागण | " | ६९ | चामीकर | अर्जुन |
| " | २५ | ० | आन्भलक्ष्मा | " | ७० | ० | अर्जुन |
| " | २६ | ० | ० | " | ७१ | चारुदत्त | अजुन |
| " | २७ | ० | हर्ष | " | ७२ | चारुदत्त | कव्वाहनर |
| " | २८ | ० | ० | " | ७३ | देहल | भोगिन् |
| " | २९ | ० | ० | " | ७४ | इदराज | इदुराज |
| " | ३० | ० | शिव | " | ७५ | अनुराग | हाल |
| " | ३१ | ० | गगद्ध | " | ७६ | समर्थ | अमप |
| " | ३२ | ० | जयतकुमार | " | ७७ | इदीवर | इद्रकर |
| " | ३३ | ० | बहुव | " | ७८ | पालित | पालित्त |
| " | ३४ | ० | ० | " | ७९ | अनुसाहक | पालित्तक |
| " | ३५ | ० | रुद्दराज | " | ८० | शालवाहन | ० |
| " | ३६ | ० | अजुन | " | ८१ | नारायण | माढिलर |
| " | ३७ | ० | ~ अनग | " | ८२ | चुल्लोह | आन्भलक्ष्मी |
| " | ३८ | ० | अनुभ॒ | " | ८३ | जावदेव | जावदेव |

| शा. | क्र. पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|
| ६ | ८४ शोज्झा. | शोजया |
| " | ८५ ० | गेन्देव |
| " | ८६ शेखर. | अंनपट्ट |
| " | ८७ मुग्धहरिण. | बप्प |
| " | ८८ सार. | सार |
| " | ८९ सार. | शारद |
| " | ९० सार. | गुणानुराग |
| " | ९१ कुमार. | माधवप्रिय |
| " | ९२ अनंग | माहल |
| " | ९३ अनग. | देव |
| " | ९४ पोटिम. | ० |
| " | ९५ भीमस्वामिन्. | ० |
| " | ९६ शालवाहन. | ० |
| " | ९७ ० | ० |
| " | ९८ शाल्वाहन. | ० |
| " | ९९ मरगन्दसेन. | ० |
| " | १०० ० | ० |
| ७ | १ चुलोह. | ० |
| " | २ चुलोह. | ० |
| " | ३ चुलोह. | ० |
| " | ४ दुर्लभराज. | गोमन |
| " | ५ शालवाहन. | रेका |
| " | ६ शाल्वाहन. | विन्ध्याधिप |
| " | ७ महिपासुर | जीवदेव |
| " | ८ पोटिम | अरदेव |
| " | ९ पाल्नि. | अपराजित |
| " | १० चन्द्रोह | चुलोटक |
| " | ११ भामस्वामिन्. | गणपति |
| " | १२ भीमस्वामिन्. | विध |
| " | १३ मुग्धराज. | रविराज |
| " | १४ मेघचन्द्र. | बोनदेव |
| " | १५ मेघचन्द्र. | सुरभिवृष |
| " | १६ वाक्पतिराज. | ० |
| " | १७ वाक्पतिराज. | कुम्जरगी, कुरगा ? |
| " | १८ वाक्पतिराज. | कुम्जरगी, कुरगी ? |
| " | १९ शाल्वाहन. | ० |
| " | २० अनुराग. | श्रीभगुप्त |

| शा. | क्र. पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|
| ७ | २१ शाल्वाहन. | ० |
| " | २२ शाल्वाहन. | ० |
| " | २३ पाल्नि. | ० |
| " | २४ रोहा. | ० |
| " | २५ माधव. | मदन |
| " | २६ विदग्ध. | ० |
| " | २७ ० | ० |
| " | २८ शाल्वाहन. | ० |
| " | २९ शाल्वाहन. | ० |
| " | ३० बोहा. | ० |
| " | ३१ ० | ० |
| " | ३२ ० | ० |
| " | ३३ ० | ० |
| " | ३४ ० | ० |
| " | ३५ ० | ० |
| " | ३६ ० | ० |
| " | ३७ ० | ० |
| " | ३८ ० | ० |
| " | ३९ ० | ० |
| " | ४० ० | ० |
| " | ४१ ० | ० |
| " | ४२ ० | ० |
| " | ४३ ० | ० |
| " | ४४ ० | ० |
| " | ४५ ० | ० |
| " | ४६ ० | ० |
| " | ४७ ० | श्री स्वनिद |
| " | ४८ ० | ० |
| " | ४९ ० | ० |
| " | ५० ० | ० |
| " | ५१ ० | ० |
| " | ५२ ० | ० |
| " | ५३ शाल्वाहन. | ० |
| " | ५४ ० | ० |
| " | ५५ ० | ० |
| " | ५६ ० | ० |
| " | ५७ ० | ० |
| " | ५८ ० | ० |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाळ |
|---|---|---|---|
| ७ | ५९ | ० | ० |
| ,, | ६० | ० | ० |
| ,, | ६१ | ० | ० |
| ,, | ६२ | ० | ० |
| ,, | ६३ | ० | ० |
| ,, | ६४ | ० | ० |
| ,, | ६५ | ० | ० |
| ,, | ६६ | ० | ० |
| ,, | ६७ | ० | ० |
| ,, | ६८ | ० | ० |
| ,, | ६९ | ० | ० |
| ,, | ७० | ० | ० |
| ,, | ७१ | ० | ० |
| ,, | ७२ | ० | ० |
| ,, | ७३ | ० | ० |
| ,, | ७४ | ० | ० |
| ,, | ७५ | ० | ० |
| ,, | ७६ | ० | ० |
| ,, | ७७ | ० | ० |
| ,, | ७८ | ० | ० |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाळ |
|---|---|---|---|
| ,, | ७९ | ० | ० |
| ,, | ८० | ० | ० |
| ,, | ८१ | ० | ० |
| ,, | ८२ | ० | ० |
| ,, | ८३ | ० | ० |
| ,, | ८४ | ० | ० |
| ,, | ८५ | ० | ० |
| ,, | ८६ | ० | ० |
| ,, | ८७ | ० | ० |
| ,, | ८८ | ० | ० |
| ,, | ८९ | ० | ० |
| ,, | ९० | ० | ० |
| ,, | ९१ | ० | ० |
| ,, | ९२ | ० | ० |
| ,, | ९३ | ० | ० |
| ,, | ९४ | ० | ० |
| ,, | ९५ | ० | ० |
| ,, | ९६ | ० | ० |
| ,, | ९७ | ० | ० |
| ,, | ९८ | ० | ० |
| ,, | ९९ | ० | ० |

| गा. | क्र. | पीतांबर | भुवनपाल |
|---|---|---|---|
| ७ | ५९ | ० | ० |
| ,, | ६० | ० | ० |
| ,, | ६१ | ० | ० |
| ,, | ६२ | ० | ० |
| ,, | ६३ | ० | ० |
| ,, | ६४ | ० | ० |
| ,, | ६५ | ० | ० |
| ,, | ६६ | ० | ० |
| ,, | ६७ | ० | ० |
| ,, | ६८ | ० | ० |
| ,, | ६९ | ० | ० |
| ,, | ७० | ० | ० |
| ,, | ७१ | ० | ० |
| ,, | ७२ | ० | ० |
| ,, | ७३ | ० | [illegible] |
| ,, | ७४ | ० | ० |
| ,, | ७५ | ० | ० |
| ,, | ७६ | ० | ० |
| ,, | ७७ | ० | ० |
| ,, | ७८ | ० | ० |
| ,, | ७९ | ० | ० |
| ,, | ८० | ० | ० |
| ,, | ८१ | ० | ० |
| ,, | ८२ | ० | ० |
| ,, | ८३ | ० | ० |
| ,, | ८४ | ० | ० |
| ,, | ८५ | ० | ० |
| ,, | ८६ | ० | ० |
| ,, | ८७ | ० | ० |
| ,, | ८८ | ० | ० |
| ,, | ८९ | ० | ० |
| ,, | ९० | ० | ० |
| ,, | ९१ | ० | ० |
| ,, | ९२ | ० | ० |
| ,, | ९३ | ० | ० |
| ,, | ९४ | ० | ० |
| ,, | ९५ | ० | ० |
| ,, | ९६ | ० | ० |
| ,, | ९७ | ० | ० |
| ,, | ९८ | ० | ० |
| ,, | ९९ | ० | ० |

# परिशिष्ट ( ग )

## प्रमुख प्राकृत शब्द-सूची

राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के परमोपकारक ग्रंथ—

# प्राकृत साहित्य का इतिहास

### प्रो० जगदीशचन्द्र जैन

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रमुख विषय तो नाम से ही स्पष्ट है किन्तु उसके सन्दर्भ रूप में विश्वभर की सम्पूर्ण भाषाओं की जानकारी संक्षिप्त रूप में प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर वेद से लेकर प्राचीनतम शिलालेख, प्राचीन नाटक, कथाग्रन्थ आदि तथा इस विषय पर खद्योत-प्रकाश डालने वाले आधुनिक ग्रन्थों के अध्ययन आदि के व्यापक समीक्षण और समालोचनपूर्वक अपने विषय का यह प्रथम ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में अवतरित हुआ है। ऐसा विश्वास है कि प्राकृत के उद्गम, स्थिति और प्रचार आदि के विषय में जो भ्रामक और सन्दिग्ध दुर्निर्णीत मत-मतान्तर प्रचलित हैं उन सबका एक साथ निर्णय हो जायगा और प्राकृत के वास्तविक एवं प्रामाणिक इतिहास से लोग परिचित हो सकेंगे।

हिन्दी साहित्य को लेखक की यह अनुपम देन है। प्रत्येक संस्कृत-साहित्य के अनुसन्धित्सु छात्र, अध्यापक एवं अनुरागी व्यक्ति को इस ग्रन्थ का अवलोकन एवं अध्ययन अवश्य करना चाहिए। मूल्य २०—००

# हिन्दी-प्राकृत-व्याकरण

### आचार्य मधुसूदनप्रसाद मिश्र

विश्वविद्यालयों में प्राकृत के अध्ययन की कुछ न कुछ स्वतन्त्र व्यवस्था की गई है। प्राकृत पढ़नेवाले छात्रों को या तो हेमचन्द्र, वररुचि आदि के संस्कृत सूत्रों को रटना आवश्यक होता था अथवा जर्मन विद्वान् पिशल आदि के अंग्रेजी अनुवादों से किसी प्रकार काम चलाना पड़ता था। अभी तक हिन्दी में प्राकृत के सभी अङ्गों पर प्रकाश डालने वाला कोई पूर्ण व्याकरण नहीं था। इसी कमी की पूर्ति के लिए विद्वान् लेखक ने इस व्याकरण का प्रणयन राष्ट्रभाषा हिन्दी में किया है। इसमें महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि प्राकृत के जितने अङ्ग हैं, उन सब का व्याकरण हेमचन्द्र आदि की सहायता से बड़े सरल एवं सुबोध रूप में प्रतिपादित हुआ है। प्रत्येक नियम विषय को अच्छी तरह समझाते हैं। नियमों के साथ स्थान-स्थान पर उनके सोदाहरण अपवाद स्थल भी बतलाये गये हैं। प्रत्येक नियम के साथ उदाहरणस्वरूप आये हुए प्राकृत शब्द के संस्कृत रूप भी सामने दे दिये गये हैं। पादटिप्पणी द्वारा उलझे हुए विषय को समझाने की पूरी चेष्टा कर साथ ही तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री भी प्रस्तुत की गई है और अन्त में अकारादि क्रम से ग्रन्थ में आये हुए उदाहरणों की सूची भी दी गई है। इस ग्रन्थ की आधुनिक विशेषताओं को देखकर बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् ने इसकी पाण्डुलिपि पर ही ४००) रुपयों का अनुदान प्रदान किया है।

मूल्य ५—००

# संस्कृत साहित्य का इतिहास

## ( बृहत् संस्करण )

### श्री वाचस्पति गैरोला

इस ग्रन्थ को लिखते समय यह ध्यान रखा गया है कि पाठक परम्परा और पूर्वाग्रह के मोह में न पड़कर प्रत्येक विवादग्रस्त प्रश्न का समाधान स्वयं कर सकें। पाठक पर अपने विचार लादने की अपेक्षा उपयुक्त यह समझा गया है कि विभिन्न मतवादों की समीक्षा करके वह स्वयं ही विषय के सही ध्येय को ग्रहण कर सके। भारतीयता या विदेशीपन का पक्षपात त्याग कर किसी भी विद्वान् के स्वस्थ और सही विचारों को उधार लेने में सङ्कोच नहीं किया गया है। पुस्तक की विषय-सामग्री और उसकी रूप रेखा का गठन भी ऐसे ढङ्ग से किया गया है, जिससे संस्कृत भाषा की आधारभूत भावभूमि का परिचय प्राप्त होने के साथ-साथ सम-सामयिक परिस्थितियों का भी अध्ययन हो सके। आर्यों के आदि देश एवं आर्य भाषाओं के उद्भव से लेकर उन्नीसवीं सदी तक की सहस्राब्दियों में संस्कृत साहित्य की जिन विभिन्न विचार-वीथियों का निर्माण हुआ और भारत के प्राचीन राजवंशों के प्रश्रय से संस्कृत भाषा को जो गति मिली, उसका भी समावेश पुस्तक में देखने को मिलेगा। मूल्य २०—००

# संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

संस्कृत साहित्य के इतिहास का यह संक्षिप्त संस्करण इस उद्देश्य से लिखा गया है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित इतिहासविषयक ज्ञान के संवर्धनार्थ विद्यार्थीवर्ग का इससे लाभ हो सके। पाठ्यक्रम की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो अनेक अन्य पुस्तकें लिखी गई हैं वे या तो सर्वांगीण नहीं हैं अथवा उनमें छात्रों के उपयोगी इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन की क्रमबद्ध रूपरेखा का अभाव है।

यह इतिहास पाठ्यक्रम की दृष्टि से तो लिखा ही गया है, किन्तु संस्कृत के बृहद् वाङ्मय का आमूल ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी इसमें उद्योग किया गया है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत के छात्रों को वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत-साहित्य के इतिहास का अध्ययन कराया जाय, जिससे कि उनकी मेधाशक्ति का स्वतंत्र रूप से विकास हो सके और प्रस्तुत विषय पर उनके भाव विचारों को नई दिशा में अग्रसर होने का अवकाश मिल सके। ८—००